वीतराग-विज्ञान

[छहढाला-प्रवचन : दूसरा भाग]

(मिथ्यात्वादिको छोडकर मोक्षमार्गमें लगनेका उपदेश)

卐

पं. श्री दौलतरामजी रचित
छहढालाके दूसरे अध्याय पर
पू. श्री कानजीस्वामीके प्रवचन

लेखक :
ब्र. हरिलाल जैन
सोनगढ

प्रथमावृत्ति १६००० भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र वीर सं. २४९७
जयपुर

❀ श्री कुंदकुंद-कहानजैनशास्त्रमाला ❀

पुष्प नं. १२०

प्रकाशक :

श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ (सौराष्ट्र)

श्री दि जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्टके माननीय प्रमुख श्री नवनीतलालभाई सी. जवेरीकी ओरसे इस पुस्तककी १२,५०० प्रतियाँ आत्मधर्म, जैनमित्र, जैन-सन्देश, सन्मतिसन्देश, वीर और वीरवाणी पत्रोंके ग्राहकोको भेट दी गई हैं।

—धन्यवाद!

वीर स २४९७ माह | मूल्य पचास पैसे | ई स १९७१ फरबरी

मुद्रक—

मगनलाल जैन

卐 अजित मुद्रणालय 卐

सोनगढ (सौराष्ट्र)

—अर्पण—

मेरे

छोटेछोटे

जिज्ञासु

साधर्मी

बन्धुओंको

—हरि

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

प्रस्तावना

पंडित श्री दौलतरामजी रचित यह छहढालाकी हिन्दी गुजराती-मराठी-कन्नड भाषाओंमें भिन्न भिन्न प्रकाशकोंके द्वारा वीससे अधिक आवृत्तियां छप चुकी हैं, और जैनसमाजमें सर्वत्र इसका प्रचार है। सोनगढ-संस्थाके माननीय प्रमुख श्री नवनीतलाल-भाई सी. झवेरीकी भी यह एक प्रिय पुस्तक है और आपको यह कंठस्थ भी है। पू. श्री कानजीस्वामीके अध्यात्मरसपूर्ण प्रवचनोंका लाभ लेते हुए एकबार आपको ऐसी भावना हुई कि यदि इस छहढाला पर पू स्वामीजीके प्रवचन हों और वह छपकर प्रकाशित हो तो समाजमें बहुतसे जिज्ञासु इसके सच्चे भावोंको समझे और इसके स्वाध्यायका यथार्थ लाभ ले सके। ऐसी भावनासे प्रेरित होकर आपने पू. स्वामीजीसे छहढाला पर प्रवचन करनेकी प्रार्थना की, उसके फलस्वरूप छहढाला–प्रवचनकी यह दूसरी पुस्तक आज हमारे जिज्ञासु साधर्मीओंके हस्तमें आ रही है। इस प्रवचनके द्वारा पू. स्वामीजीने छहढालाका महत्त्व बढाया है और इसके भावोंको खोलकर जिज्ञासुजीवों पर उपकार किया है। छहढालाके छहों अध्यायके प्रवचनोंका अंदाज एक हजार पृष्ठ होनेकी संभावना

जो कि अलग-अलग छह पुस्तकोंमें प्रकाशित होगा। इनमेंसे दूसरे अध्यायकी यह पुस्तक आपके सन्मुख है और आगेकी तैयार हो रही है।

ससारके जीवोंको दु खसे छूटनेका व सुखकी प्राप्तिका पथ दिखानेवाली यह 'छहढाला' सभी जैनोंको उपयोगी है; अनेक जगह पाठशालाओंमें यह पढ़ाई जाती है, एवं बहुतसे स्वाध्यायप्रेमी जिज्ञासु इसे कण्ठस्थ भी करते हैं। इस पुस्तक के प्रारंभमें, वीतरागविज्ञानके अभावमें जीवने ससारकी चार गतियोंमें किस किस प्रकारके दु ख भोगे यह दिखाया है और इस दु खके कारणरूप मिथ्यात्वादिका स्वरूप समझाकर उसको छोडनेका उपदेश दिया है, इसके बाद उस मिथ्यात्वादिको छोडनेके लिये मोक्षके कारणरूप सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रका स्वरूप समझाकर उसकी आराधनाका उपदेश दिया है। –ऐसे, इस छोटीसी पुस्तकमें जीवोंको हितकारी प्रयोजनभूत उपदेशका सुगम सकलन है, और उसमें भी सम्यक्त्वप्राप्तिके लिये खास प्रेरणा देते हुए कहा है कि—

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या विन ज्ञान–चरिता–
सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा ॥

सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान या चारित्र सच्चा नहीं होता, सम्यग्दर्शन ही मुक्तिमहलकी प्रथम सीढी है। अतः हे भव्य

जीवों ! यह नरभव पाकरके काल गमाये विना तुम अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्वको धारण करो।

इस पुस्तकके रचयिता प. श्री दौलतरामजी एक कवि थे। किसी कविमें मात्र काव्यशक्तिका होना ही पर्याप्त नहीं है परन्तु उस काव्यशक्तिका उपयोग जो ऐसी पदरचनामें करे कि जिससे जीवोंका हित हो—वही उत्तम कवि है। ससारके प्राणी विषय-कषायके शृगार-रसमें तो फँसे ही हुए हैं, और ऐसे ही शृगाररसपोषक काव्य रचनेवाले 'कुकवि' भी बहुत हैं, परन्तु शृगाररसमें से विरक्त कराके वैराग्यरसको पुष्ट करे ऐसे हितकर अध्यात्मपदके रचनेवाले 'सु कवि' संसारमें विरल ही होते हैं। ऐसी उत्तम रचनाओंके द्वारा अनेक जैन कवियोंने जैन शासनको विभूषित किया है। श्री जिनसेनाचार्य, समन्तभद्राचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, मानतुंगस्वामी, कुमुदचन्द्रजी इत्यादि हमारे प्राचीन संत—-कवियोंने अध्यात्मरस-भरपूर जो काव्यरचनाये की हैं उनकी तुलना, आध्यात्मिक दृष्टिसे तो दूर रही परन्तु साहित्यिक दृष्टिसे भी शायद ही कोई कर सकें। हिन्दी साहित्यमें भी पं. बनारसीदासजी, भागचन्दजी, दौलतरामजी, द्यानतरायजी इत्यादि अनेक विद्वानोंने अपनी पदरचनाओंमें अध्यात्मरसकी मधुर धारा बहाई है,—इनमेंसे एक यह छहढाला है—जो सुगमशैलिसे वीतराग-विज्ञानका बोध देती है।

इस छहढालाके रचयिता पं. श्री दोलतरामजीका समय विक्रम सम्वत् १८५५ से १९२३–२४ तक का है। उनका जन्म हाथरसमें हुआ था। वह वहुत शास्त्रस्वाध्याय करते थे। बादमें लश्कर–ग्वालियरमें रहे। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदिके हिन्दी टीकाकार पं. सदासुखजी (जयपुर), बुधजनविलास तथा छहढाला (दूसरी) के कर्ता प. बुधजनजी, प वृंदावनजी (काशी), ईसागढमें पं. भागचन्दजी, दिल्लीमें प. वख्तावरमलजी तथा पं तनसुखदासजी आदि विद्वान भी उनके समकालीन थे। उनका स्वर्गवास विक्रम सं. १९२३ या २४में मागशर कृष्णा अमावास्याके दोपहरमें दिल्लीमें हुआ था। उन्हें छह दिन पहले स्वर्गवासका आभास हो गया था, और गोम्मटसार शास्त्रका जो स्वाध्याय वे कर रहे थे वह ठीक स्वर्गवासके ही दिन उन्होंने पूर्ण किया था। इस छहढालाके उपरान्त उन्होंने सवासौके करीब अध्यात्म-भजन ['हम तो कबहुं न निजघर आये,' और 'जीया! तुम चलो अपने देश' इत्यादि] रचे हैं, जिनका संग्रह 'दौलतविलास' पुस्तकरूपसे प्रसिद्ध हुआ है।

यह छहढाला प दौलतरामजीने १८९१ की अक्षय-तृतियाके दिन पूर्ण की है, दूसरी छहढाला जो कि पं. बुधजनजी कृत है, वह भी उन्होंने १८५९ की अक्षयतृतीयाको पूर्ण की है, अतः इसके पूर्व ३२ वर्ष पहले ही वह रची गई है। दोनों छहढालाका समाप्ति दिन एक ही है, और दोनोंके छह

प्रकरणोंमें बहुतसा साम्य है—जो कि कार्तिकेयस्वामीकी द्वादशानुप्रेक्षा वगेरह प्राचीन शास्त्रोंके अनुसार लिखा गया है। पं. दौलतरामजी अन्तर्में स्पष्ट कहते हैं कि–यह छहढाला मैंने प. बुधजनरचित छहढालाके आधारसे लिखी है–'कयों तत्त्व उपदेश यह, लखि बुधजनकी भाख।' इस प्रकार ये दोनों छहढाला बड़ी-छोटी बहिनोंके समान हैं। और इस छहढाला की तरह पं. बुधजनरचित छहढालाकी भी विशेष प्रसिद्धि हो यह आवश्यक है।

पूज्य स्वामीजीके इन प्रवचनोंमें से दोहन करके २४० प्रश्नोत्तरोंका संकलन इस पुस्तकके अन्तभागमें दिया है,–वह भी तत्त्वजिज्ञासुओंको रुचिकर होगा और उन प्रश्नोत्तरोंके द्वारा सारी पुस्तकका सार समझनेमें सुगमता रहेगी। समस्त भारतके व विदेशके भी तत्त्वजिज्ञासु लोग ऐसे वीतरागी-साहित्यका अधिकसे अधिक लाभ लेकर वीतरागविज्ञान प्राप्त करें....ऐसी जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें भावना करता हूँ।

मंगल-दीपावली

वीर सं. २४९७ —ब्र. हरिलाल जैन

सोनगढ
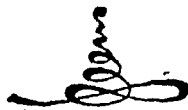
प्रमुखश्रीका निवेदन

मुझे बहुत हर्ष है कि पंडितवर्य श्री दौलतरामजी रचित छहढाला पर पू. श्री कानजीस्वामीने जो प्रवचन किये उनमेंसे दूसरी ढालके प्रवचन इस 'वीतराग विज्ञान' पुस्तकमें प्रकाशित हो रहे हैं।

इस छहढालाने, पू. श्रीकानजीस्वामीके सम्पर्गमें आनेके पहले मेरे जीवनमें अच्छा असर किया है और बार बार इसके अध्ययनके कारण यह सारा ग्रंथ कंठस्थ हो गया है; अभी भी हररोज इसकी दो ढालका मुखपाठ करनेसे और भी अधिक भाव खुलते जाते हैं।

सं. २०१५ में जब पू. श्री कानजीस्वामी दूसरी बार बम्बई पधारे तब आपके विशेष परिचयमें आनेका मुझे अवसर मिला और आपको घर पर निमन्त्रित किया, उस प्रसंग पर जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी जो छाप मेरे दिलमें थी वह मैंने एक पत्र द्वारा गुरुदेवके समक्ष व्यक्त की -- जिसमें छहढालाका उल्लेख मुख्य था। उसके बाद भी गुरुदेवका बारम्बार समागम होने पर (विशेष करके सोनगढमें सुबहके समय आपके साथ घूमनेको जाते समय) जिन जिन विषयोंकी तत्त्वचर्चा चलती

थी उनके अनुसधानमें छहढालाका पद मैं बोलता था, और उसे सुनकर गुरुदेव प्रसन्न होते थे, प्रवचनमें भी कई वार उसका उल्लेख करते थे। इस कारण समाजमें छहढालाका प्रचार व महत्ता बढ़ने लगी। वैसे तो सोनगढके शिक्षणवर्गमें छहढाला अनेक वर्षोसे चलती थी किन्तु उपरोक्त प्रसंगके बाद, सोनगढमें अष्टमी-पूर्णिमाको समयसारादिकी जो सामूहिक स्वाध्याय होती है उसमें छहढालाके पदोंका भी स्वाध्याय होने लगा, अत्यत मधुरतासे पूर्ण यह स्वाध्याय सुनकर चित्त प्रसन्न होता है। इसके बाद पू. गुरुदेवसे प्रार्थना करने पर आपने भव्य जीवोंके उपर कृपा करके छहढालाके उपर करीब डेढ़ मास तक प्रवचन किया। उन्हीं प्रवचनमें से आज यह दूसरी पुस्तक भव्य जीवोंके लाभार्थ प्रकाशित हो रही है। और जिज्ञासुओंको यह भेट देते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है।

इस छहढालाके प्रवचनोंके द्वारा जैनसिद्धान्तके रहस्यों को समझाकर पू. गुरुदेवने जैनसमाज पर उपकार किया है। गुरुदेवके प्रवचनोंका यह भावपूर्ण सकलन कर देनेके लिये भाईश्री ब्र हरिलाल जनको भी धन्यवाद है।

इस छहढालारूपी गागरमें सिद्धान्तरूपी सागर भरा है। सनातन सत्य दिगवर जैनधर्मके सिद्धान्त अतीव सुन्दर ढगसे काव्यरचनाके द्वारा विद्वान कविश्रीने इस पुस्तकमें भर

देनेकी कोशिश की है, और उनकी यह रचना सफल हुई है। जैनसमाजमें यह छहढाला बहुत ही प्रसिद्ध है और इसके गहरे भावोंको इस प्रवचनमें सुगम रीतिसे खोला गया है। अतः जैनसमाजके जिज्ञासुओंको, एवं वस्तुस्वभाव समझनेमें जिसको रस हो ऐसी प्रत्येक व्यक्तिको यह अत्यन्त उपयोगी होगा, और इसकी समझसे भव-भ्रमणके दुःखका अन्त आकर मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होगी।

卐 जैनं जयतु शासनम् 卐

वीर सं. २४९७ — नवनीतलाल चु. जवेरी
महावीर-मोक्षकल्याणक — प्रमुख, श्री दि. जैन स्वा मं. ट्रस्ट
सोनगढ — सोनगढ

विषय-सूचि

छहढाला : दूसरी ढाल

(१)

ऐसे मिथ्या दृग-ज्ञान-चर्ण वश भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण,
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ वखान.

(२)

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप.

(३)

पुद्गल–नभ–धर्म–अधर्म–काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान करि करै देहमें निजपिछान.

(४)

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव;
मेरे सुत तिय मैं सवल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण.

(५)

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन.

(६)

शुभ अशुभ बंधके फल मँझार, रति अरति करैं निजपद विसार;
आतमहित हेतु विराग–ज्ञान, ते लख आपको कष्टदान.

(७)

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखःदायक अज्ञान जान.

इन जुत विषयनिमें जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त;
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह.

(९)

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शनमोह एव;
अंतर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बरतैं सनेह.

(१०)

धारैं कुलिंग लहि महंत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव;
जो रागद्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन.

(११)

ते हैं कुदेव तिनही जु सेव शठ करत, न तिन भवभ्रमण छेव;
रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत.

(१२)

जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरधैं जीव लहै अशर्म;
याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान.

(१३)

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
कपिलादि-रचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास.

(१४)

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह धरि करन विविध विध देहदाह;
आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन.

(१५)

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हित पंथ लाग;
जगजाल-भ्रमणको देहु त्याग, अब दौलत! निज आतम सुपाग.

वीतराग-विज्ञान [२]

卐

णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्वसाहूणं।

卐

छहढाला-प्रवचन

[दूसरा अध्याय]
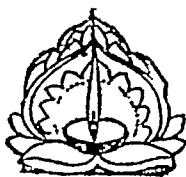
मंगलरूप वीतराग-विज्ञान
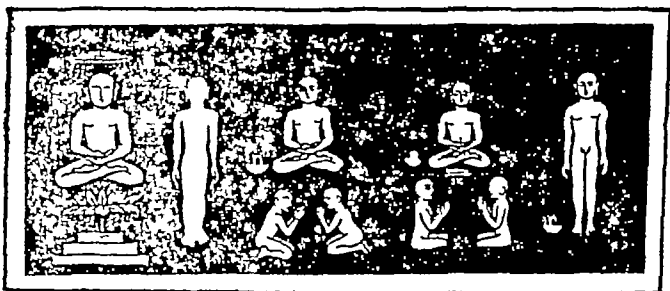
तीन भुवनमें सार वीतराग-विज्ञानता ।
शिवस्वरूप शिवकार नमुं त्रियोग-सम्हारिके ॥

मंगलमय मंगलकरन वीतराग-विज्ञान ।
नमुं ताहि जातें भये अरिहंतादि महान ॥

दुःखके कारणरूप मिथ्यात्वादिके त्यागका उपदेश

इस छहढालामें सबसे पहले वीतरागविज्ञानको नमस्कार करके मंगल किया, और उसीको सर्वोत्कृष्ट बतलाया। ऐसे वीतराग विज्ञानके अभावमें जीवने चार गतिमें कैसे कैसे दुःख भोगे उसका वर्णन पहली ढालमें किया। ये चार गतिके दुःखके कारणरूप जो मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याआचरण, उसका स्वरूप पहचान करके उसको छोड़नेका उपदेश इस दूसरी ढालमें देते हैं—

(गाथा : १)

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्ण, वश भ्रमत भरत दुःख जन्म-मर्ण ।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूं बखान ॥१॥

जीव मिथ्यात्वके सेवनसे ही दुःखी है। शरीरका छेदन-भेदन या शीत-उष्णता आदि संयोगसे चार गतिके दुःखका कथन किया, किन्तु उसमें दुःखका सच्चा कारण बाह्यसंयोग नहीं है, मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याआचरण ही दुःखका सच्चा कारण है। यह समझकर मिथ्यात्वादिका त्याग करना चाहिए। मिथ्यात्वभाव जीवको महान दुःख देनेवाला शत्रु है; इस मिथ्यात्वादि शत्रुसे आत्माके स्वभावका रक्षण करनेके लिये वीतराग विज्ञान मजबूत ढाल है ।

निगोदसे लेकर नवमी ग्रैवेयक तकके चारों गतिके अवतार-में जीवने जो दुःख भोगे वह मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्रके सेवनसे ही भोगे हैं। और ऐसा नहीं है कि मात्र नरकके ही अवतारमें दुःख भोगे, स्वर्गका अनन्त अवतार किया उसमें भी दुःख ही भोगे हैं। जहाँ सम्यग्दर्शनादि है वहाँ ही सुख है, और जहाँ मिथ्यात्वादि है वहाँ दुःख ही है,—चाहे नरक हो, चाहे स्वर्ग हो। तिर्यंचमें या नरकमें, स्वर्गमें या मनुष्यमें, सर्वत्र दुःखका कारण तो जीवके मिथ्यात्वादि भाव ही हैं। उन मिथ्यात्वादि भावोंके वश होकर जीव चारगतिमें रुलता है और महान दुःखोंको भोगता है। उसके दुःख सर्वज्ञने जैसे देखे है उसीके अनुसार यहाँ कुछ कथन किया। अनन्त दुःखोंका वर्णन कहांतक किया जाय ?

जीव निगोदमें भी अपने मिथ्यात्ववश ही रहा है, अन्य किसी कारणसे नहीं। श्री गोम्मटसारजीकी गाथा १९७में कहा है कि 'भावकलंक सुपउरा निगोदवासं ण मुचंति' अर्थात् भावकलंककी अत्यंत प्रचुरता होनेसे वे जीव निगोदवासको छोड़ते नहीं। जीवको अपना मिथ्यात्वभाव ही दुःखरूप है; कर्म तो जड़ है, वह तो मात्र निमित्त है, जीवसे वह भिन्न है। भाई, तेरे उल्टे भावके अनुसार ही कर्म बँधे हैं, अतएव परिभ्रमणका मूल कारण तेरा उल्टा भाव ही है; तेरे उल्टे भावको छोड़ तो तेरा भ्रमण मिटे। सम्यग्दर्शनके विना जीवका परिभ्रमण कभी नहीं मिटता। हे जीव! मिथ्यात्वके सेवनसे

जन्म-मरणका बहुत दुःख तू भोग चुका, अब तो उस मिथ्यात्वादिको छोड़ छोड़।

जीवने दयादिके शुभभावसे स्वर्गका भव भी अनन्तवार किया, एवं हिंसादिके तीव्र पाप करके नरकमें भी वह अनन्तवार जा चुका, किन्तु शुभ-अशुभ दोनोंसे पार निजस्वरूप है—उसकी पहचान नहीं की। देहमें और रागमें एकत्वबुद्धिका होना यह मिथ्यात्व है—ऐसा जानकर उसे छोड़ना चाहिए। भवदुःखका कारण क्या ?-कि मिथ्यात्वादि भाव, यह मिथ्यात्वादिका स्वरूप संक्षेपसे इस अध्यायमें कहेंगे; किस हेतुसे ?-कि उसको पहिचानकर उसका त्याग करनेके लिये।

अज्ञानी संयोगबुद्धिसे दुःखी हो रहा है, संयोग यदि अनुकूल हो तो अच्छा, और प्रतिकूल हो तो बुरा,—ऐसी मिथ्याबुद्धि दुःखका मूल है। नरकादिके दुःखोंके कथनमें संयोगके निमित्तसे बात की है, परन्तु वास्तवमें प्रतिकूल सयोग दुःख नहीं है, जीवका मोहरूप आकुलभाव ही दुःख है।

जीवने मिथ्यादृष्टिपनेमें निगोदसे लेकर नवमी ग्रैवेयक तकके अवतार अनन्तवार किये, उनमें सामान्यतया सबसे कम भव मनुष्यके किये,-यद्यपि वे भी अनन्त किये किन्तु अन्य गतिकी अपेक्षासे वे कम हैं; उनसे असंख्यातगुणे नरकके भव किये, उनसे असंख्यातगुणे देवके भव किये, और उनसे अनन्तगुणे भव तिर्यच गतिमें किये; सिद्धपद इस जीवने

पूर्वमें कभी भी प्राप्त नहीं किया। संसारका अनन्तकाल तो एकेन्द्रियपनके महान दुःखमें विताया। उस वक्त जीवको किसी प्रकारकी विवेक बुद्धि ही नहीं थी, उसकी चेतना इतनी हीन हो गई थी कि, सिर्फ इतना ही बाकी रहा कि वह जड़ न हो गया। अब तो जीवको चेतनेका अवसर आया है, अतः घोर दुःखके कारणरूप मिथ्यात्वादिको जानकर उनको सर्वथा छोड़ना चाहिए। मिथ्यात्वको मिथ्यात्वरूपसे जो पहचाने भी नहीं वह उसका त्याग कैसे करेगा? इसलिये कहा कि 'इनको तजिये सुजान' अर्थात् उन मिथ्यात्वादि दुश्मनोंको अच्छी तरह जानकर उनका त्याग करो। मिथ्यात्वका अंश भी बुरा है, अतः उसका निर्मूल नाश करना चाहिए। उसका नाश करनेके लिये यहां उसका स्वरूप दिखलाते हैं; मिथ्यात्वमें कैसी कैसी विपरीत मान्यताएँ होती हैं यह जानकर, अपनेमें ऐसी कोई मान्यता हो तो छोड़ देना चाहिए। बडे बडे आचार्योंने शास्त्रोंमें जो विस्तृत वर्णन किया है, उसीके अनुसार यहां संक्षेपमें कहा जायेगा। यह समझकर मुमुक्षुको सम्यक्त्वका सेवन करना और मिथ्या भावोंका सेवन छोड़ना।

भाई, तेरे दुःखकी कथा तो इतनी बड़ी है कि उसे पूर्णतः केवली भगवान ही जानते हैं; कथनमें तो अल्प ही आता है। मिथ्यात्वादि कैसे भाव तुमने सेये और उनके सेवनसे तुम कैसे दुःखी हुए?–यह बात सुनो! सुनकर अब

उनका सेवन छोड़ दो। तुमको किसी दूसरेने नहीं रुलाया, किन्तु अपने मिथ्यात्व भावसे ही तुम रुले और दुःखी हुए। मिथ्यात्व और राग द्वेष दुःखका कारण हैं। राग अशुभ हो या शुभ, दोनोंमें दुःख है। शुभसे भले स्वर्ग मिले किन्तु वह भी दुःख है, शुभरागसे स्वर्ग मिल जाय किन्तु कहीं भी शुभरागसे आत्मा नहीं मिल सकता, अथवा आत्माके सम्यग्दर्शनादि कोई गुण शुभरागसे नहीं मिलते। राग तो स्वयं दोष है, उसके द्वारा गुणकी प्राप्ति कैसे हो? कभी नहीं होती। मिथ्यात्व और राग वह स्वयं ही दुःख है, उसका फल भी दुःख है, तब फिर वह मोक्षसुखका कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी उसको सुखका कारण समझ रहा है। जो वीतराग-विज्ञान है वह सुख है, जो राग-द्वेष-अज्ञान है वह दुःख है,-ऐसा जानकर हे जीव! दुःखके कारणोंसे तू दूर हट जा, और सुखके लिये वीतराग-विज्ञानको प्रगट कर।

'मैं ज्ञान हूं' यह भूलकर, 'राग मैं हूं, शरीर मैं हू'-ऐसी मिथ्याबुद्धिका होना वह संसारका मूल है। ऐसे मिथ्यात्व-भाव सहित जो जानपना है वह मिथ्याज्ञान है, और मिथ्यात्व सहितका आचरण वह मिथ्या चारित्र है।

शरीर अजीव है, मिथ्यात्व-पुण्य-पाप आस्रव हैं; इन अजीव और आस्रवको अपना मानना या हितकर मानना वह मिथ्या श्रद्धा है। मैं ज्ञान हूँ-ऐसे अपने जीवतत्त्वको भूल गया,

और मैं देह हूँ-ऐसे अजीवको जीव मान लिया, यह विपरीत मान्यता मिथ्यादर्शन है।

उसीप्रकार रागादि आस्रवको जीवस्वभाव मानना या उसको संवर-निर्जराका कारण मानना-वह भी मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादृष्टि जीव सातों तत्त्वके सम्बन्धमें कैसी भूल करता है यह आगे दिखायेंगे।

जीव, अजीव आदि सातों तत्त्व भिन्न भिन्न स्वरूपवाले हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है, शरीरादि अजीव है। अजीवका काम जीवका नहीं है। अजीव ऐसे शरीरादिमें जो जीवका काम माने उसने जीव-अजीवको भिन्न नहीं जाना किन्तु एक माना। भिन्न-भिन्न तत्त्वोंको एक मानना सो मिथ्यात्व है।

हिंसादि पापभाव एवं दयादि शुभभाव-ये दोनों शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है किन्तु आस्रव हैं, और बन्धका अर्थात् दुःखका कारण है; ऐसा होने पर भी उनको ज्ञानके साथ एकमेक मानना अथवा उनमेंसे किसीको सुखका कारण समझना-सो मिथ्यात्व है। जैसे ज्ञान और अजीव भिन्न है वैसे ज्ञान और आस्रव भी भिन्न हैं। ज्ञानमय जीव, और रागादिरूप आस्रव-ये दोनों अलग-अलग हैं, उनको अलगरूप पहचानना चाहिए। इसप्रकार तत्त्वोंको पहचानकर विपरीत मान्यता छोड़ देना चाहिए, क्योंकि विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व महा दुःखका कारण है, और उसको सबसे बड़ा पाप गिननेमें आया है।

वचनकी-देहकी क्रिया जीवकी नहीं है परन्तु अजीवकी है। आठों कर्म अजीव हैं, जड़ कर्म जीवको दुःख नहीं देता, किन्तु जीव अपने विपरीत भावसे (मोहसे) दुःखी होता है। जड़के पास सुख-दुःख है ही कहाँ,-जो वह जीवको दे? जीवके सुख-दुःखका कारण तो जीवमें ही है। वर्ण-गंध वाला रूपी जड़-अचेतन पुद्गल,-क्या उसमें सुख या दुःख है?-नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दसे भरपूर चैतन्य भगवान, वह अपने आपको भूलकर विपरीत भावसे दुःखी होता है, और अपने स्वभावको पहचानकर उसमें एकाग्रतासे सुखी होता है। अतएव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है सो संवर है और सुखका कारण है। अपने दुःख या सुख परिणामका कर्ता जीव स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

भाई! तुम तो जीव हो, घर-पैसा-शरीर ये सब अजीव हैं; अजीवको अपना मानना वह मिथ्यात्व है-अज्ञान है और चार गतिके महान दुःखोंका कारण है, यह जानकर उसको छोड़ो। जड़का संयोग तुमको सुख या दुःखका कारण नहीं है, वह तो पर चीज है, अलग है। दुःख अपनेमें और उसका कारण परमें-यह कैसे बने? दुःख अपनेमें है तो उसका कारण भी अपनेमें है और उसे मिटानेका उपाय भी अपनेमें ही है, बाहरमें नहीं है। परन्तु अज्ञानी अपनी भूल न देखकर बाह्यमें दूसरेको दुःखका कारण समझता है, और उसके ऊपर वह द्वेष करता है, किंतु दुःख दूर करनेका वास्तविक उपाय वह

नहीं करता। यदि अपने मिथ्यात्वादि विपरीत भावको दुःखका कारण समझे तो सम्यग्दर्शनादि भावोंके द्वारा उसको दूर करनेका उद्यम करे।

शरीर ही मैं हूँ, अतएव शरीरकी प्रतिकूलतामें मुझे दुःख और शरीरकी अनुकूलतामे मुझे सुख ऐसी अज्ञानीकी बुद्धि है, अजीवको जीव माननेरूप मिथ्यात्व है। ऐसा तो नहीं है कि शरीरका नीरोग रहना वह सुख, और शरीरमें रोगका होना सो दुःख, शरीर जीवको न तो कुछ मदद करता है, और न कुछ रुकावट करता है। (सातवीं नरककी प्रतिकूलताके बीचमें भी जीव सम्यग्दर्शन पा लेता है,) उसमें उसको प्रतिकूलताकी आड़ कहां आई? वैसे मिथ्यादृष्टिको भी किसी संयोगका विघ्न नहीं है, किन्तु देहबुद्धिका विपरीत भाव ही विघ्नकारी है। बाह्य साधनकी जो बुद्धि है वही उसको अन्तर्मुख नहीं होने देती। यदि अन्तरमें मैं ज्ञानस्वरूप हू-ऐसा लक्ष करे तो, बाह्यमें प्रतिकूलता होते हुए भी सम्यग्दर्शनादि हो सकता है, और बाह्यमें सब तरहकी अनुकूलता होनेपर भी, यदि जीव स्वय अंतरलक्ष न करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। अपनेमें ही जब ताकत न हो तो दूसरा क्या करे? भाई, देहादि संयोगसे भिन्न जीवतत्त्व तुम हो किन्तु मिथ्यात्ववश अपना निजरूप भूलकर तुम रुले और जन्म-मरणके बहुत दुःख तुमने सहन किए। अब यह दुःख मेटनेके लिये संयोगकी ओर देखना छोड़कर तुम अपने

स्वभावके सन्मुख देखो, तुम चेतनरूप हो।

देखो, सुगम भाषामें कितनी सरस बात समझायी है! कैसी अच्छी हितकी बात है? मोक्षार्थी जीवको यह बात समझकर, दुःखके कारणरूप मिथ्यात्वादिको छोड़ना चाहिए, और सुखके कारणरूप सम्यक्त्वादिका ग्रहण करना चाहिए। सुख-दुःख कोई दूसरेके कारणसे नहीं हैं, परन्तु मेरे भावसे ही मुझे सुख-दुःख है-ऐसा जानकर सम्यक्त्वादि भावकी उपासना करना और मिथ्यात्वादि भावका त्याग करना, ऐसा उपदेश है।

अब जीवादि तत्त्वोंका सच्चा स्वरूप कैसा है, और उनकी पहचान करनेमें जीव कैसी भूल करता है? यह दिखाते हैं,-क्यों दिखाते हैं? कि 'इनको तजिये सुजान' अच्छी तरहसे भूलको जानकरके उसको छोड़नेके लिये उसका स्वरूप दिखाते हैं,-जिससे दुःख मिटे और सुख होवे।

प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानमें अज्ञानीकी भूल

जीव-अजीवकी भिन्नता न जानकर, उनको एक मानकर, जीव संसारमें दुःखी हो रहा है, भूलका स्वरूप समझाकर, उससे छुड़ानेके लिये यह उपदेश है—

(गाथा २)

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व ।
चेतनको है उपयोगरूप, विनमूरति चिन्मूरति अनूप ॥२॥

मैं कौन हूं और मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी सच्ची पहचान जीवने कभी नहीं की। अनादिसे अपने सच्चे स्वरूपको भूलकर जीवने अपनेको पुण्य-पापरूप और शरीर-रूप ही मान रक्खा है;—यह अगृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत अर्थात् किसीके उपदेशसे जो नयी ग्रहण नहीं की गई, किन्तु अनादिसे चली आई है-ऐसी भूल; उसको नैसर्गिक-मिथ्या-दर्शन भी कहते हैं। अपने स्वभावके बारेमें अनादिसे ऐसी भूल होनेके उपरान्त, कुगुरुओंके उपदेश द्वारा वीतराग-देवादिसे विपरीत कुदेवादिकी मान्यताको जीव ग्रहण करता है वह गृहीत मिथ्यात्व है; उसका वर्णन पीछे (गाथा ९ से) करेंगे। जीवने गृहीतमिथ्यात्वको तो कई बार छोड़ा है परन्तु आत्मश्रद्धानपूर्वक अगृहीत मिथ्यात्व कभी नहीं छोड़ा। कभी

बाह्य त्यागी हुआ और शुभभाव करके स्वर्गमें गया तब भी उस शुभरागमें धर्म मानकर उस रागके ही अनुभवमें रुक गया, रागसे भिन्न चेतनरूप आत्माका अनुभव न किया, यातें अगृहीत मिथ्यात्व न छूटा। कुदेवादिके सेवनरूप गृहीत-मिथ्यात्वको छोड़ा और सच्चे देव-गुरुको माना, पंच महाव्रतका पालन भी किया, क्योंकि इसके विना नवमी ग्रैवेयक तक नहीं जा सकता। इसप्रकार जीवने गृहीतमिथ्यात्व छोड़कर भी, उपयोगस्वरूप शुद्धात्माकी श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्रगट न किया और मिथ्यात्व न छोड़ा, इस कारण संसार-भ्रमण ही बना रहा, अतः यहां जीवादिका यथार्थ स्वरूप जानकर मिथ्यात्वका सर्वथा नाश करनेका उपदेश देते हैं।

आत्माका स्वरूप कैसा है? सर्वज्ञ भगवानने आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप देखा है, देहसे भिन्न देखा है। ऐसे आत्माको जाननेसे देहके साथ एकत्वबुद्धि छूट जाती है। आत्माके स्वभावमें दुःख नहीं है, आत्मा तो ज्ञान-आनन्द व शांतिसे भरा है। देहमूर्त है, आत्मा अमूर्त है। 'विनमूरति' अर्थात् वर्णादि रूपसे रहित, और 'चिन्मूरति' अर्थात् चैतन्यस्वरूप-ऐसा आत्मा है।

कर्म और शरीर अजीव है, पुण्य-पाप आस्रव है; उसको ही जीवका स्वरूप समझना-यह तो सर्वज्ञभगवानके उपदेशसे विपरीत मान्यता है, अतएव मिथ्या श्रद्धा है। अनन्त जीव सर्वज्ञ-केवली भगवान हुए, सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर

भगवत विदेहक्षेत्रमें (मनुष्यलोकमें ही) सर्वज्ञता सहित वर्तमानमें विराज रहे हैं; उन सब भगवंतोंने उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, आत्माको जड़रूप या रागरूप नहीं देखा। उपयोगरूप आत्मा भगवानने देखा और उपदेशमें ऐसा ही दिखाया। ऐसे आत्माको देहसे पृथक् अनुभवमें लेकर हे जीव! मिथ्यात्वको छोड़।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—ये सात तत्त्व प्रयोजनभूत हैं अर्थात् उनका ज्ञान करना वह प्रयोजनभूत है। अजीव या आस्रव-बन्ध ये तो मोक्षके लिये प्रयोजनभूत नहीं हैं, परन्तु उनको छोड़नेके लिये उनकी पहचान करना यह प्रयोजनभूत है। पहचानके विना उनको छोडेगा कैसे? घरमे कोई दुश्मन घुस गया हो, उसको पहचाने नहीं और मित्र मान ले तो उसको घरसे निकालेगा कैसे? वैसे रागादि आस्रव जो कि शत्रु जैसा है, उसको जो मित्र मान ले (-अर्थात् उसको धर्मका साधन मान ले) तो उसको छोडेगा कैसे? सभी तत्त्वोंका स्वरूप जैसा है वैसा (अन्यून अनतिरिक्त) जानकर सच्ची श्रद्धा करनेसे भूल मिटती है, और भूल मिटने पर दुःख मिटता है। अतः जिसको दुःखसे छूटकर सुखी होना हो उसको जीवादि सात तत्त्वोंका एवं सच्चे देव-गुरु-धर्मका स्वरूप पहचानना चाहिए। शुद्धदृष्टिसे देखने पर सभी तत्त्वोंमें शुद्ध जीव ही उपादेय है। अजीव तो भिन्न है, आस्रव-बन्ध दुःखके कारण

हैं, संवर-निर्जरा सुखके कारण हैं, और पूर्ण सुखरूप मोक्ष है।

जीव कैसा है?-चेतन है। चेतनका अर्थात् जीवका निजरूप तो उपयोग है। जीव चेतनरूप सुखसे भरा है; अजीवमें ज्ञान या सुख-दुःख नहीं हैं। जीव ही ज्ञानसे स्व-परको जानता है और अपने सुखका वेदन करता है। जगतमें अन्य किसीकी उपमा जिसको लागू नहीं होती ऐसा अनुपम जीवतत्त्व उपयोगरूप है। ऐसे निजतत्त्वकी पहचानके विना जीव दुःखी हुआ, जब अपनी पहचान करे तब मिथ्यात्व मिटे और दुःख छूटे। 'मैं उपयोगस्वरूप जीव हूं'—ऐसे अनुभवके विना देहबुद्धि मिटे नहीं और सुख प्रगटे नहीं।

पहली ढालकी १४ वीं गाथामें कहा था कि 'कैसे रूप लखै अपनो'—विषयोंमें मग्न जीव अपना रूप अर्थात् आत्माका स्वरूप कैसे पहचान सकता है? आत्माका निजरूप क्या है सो यहां कहा कि—

'चेतनको है उपयोगरूप, विनमूरति चिन्मूरति अनूप।'

श्री कुन्दकुन्द स्वामीने समयसारमें यही कहा है कि—

* [अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा अरूवी]
मैं एक, शुद्ध, ज्ञानदर्शनमय, सदा अरूपी हूँ।

* [सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओग लक्खणो णिच्चं]
सर्वज्ञके ज्ञानसे देखा गया जीव नित्य उपयोगलक्षणरूप है।

* नाटक-समयसारमें पं० बनारसीदासजी भी कहते हैं कि—
'चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो'

* श्रीमद् राजचंद्रजी आत्मसिद्धि काव्यमें कहते हैं कि—
'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयज्योति सुखधाम।'

—इस प्रकार सर्वज्ञ भगवानका देखा हुआ जीवका यथार्थ स्वरूप ज्ञानीजनोंने स्वयं अनुभवमें लेकर शास्त्रमें दिखाया है; उसी प्रकार अच्छी तरह पहचानना चाहिए।

* नव तत्त्वोंमें जीव चेतनरूप,

* चेतनारहित पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव,

* मिथ्यात्व और रागद्वेषादि भाव—जिनसे कर्म आते हैं व बंधते हैं, आस्रव तथा बंध;

* सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्धात्माका ज्ञान व उसमें लीनतासे शुद्धता होनेपर नये कर्मका निरोध होना और पुराने कर्मोंका झड़ जाना वह संवर-निर्जरा;

* और सम्पूर्ण सुखरूप, तथा कर्मके सर्वथा अभावरूप मोक्ष है।

—ऐसे तत्त्वोंकी पहचान करे तब जीवका मिथ्यात्व मिटे। अतः अपने हितके लिये सात तत्त्वोंका ज्ञान उपयोगी है, आवश्यक है। तत्त्वको जाने नहीं और धर्म करना चाहे, तो वह नहीं हो सकता। धर्म करनेके लिये अर्थात् सुखी होनेके

लिये जीवादि तत्त्वोंको पहचानकर उनके सम्बन्धमें विपरीत मान्यता मिटा देना चाहिए।

सर्वज्ञदेवने जीव सदा उपयोगलक्षणरूप देखा है। आत्माका स्वरूप उपयोगमय है। ऐसा उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा जिसने अपने ज्ञानमें न देखा वह जीव तत्त्वोंमें कहीं न कहीं भूल करेगा, और जहाँ भूल होगी वहाँ दुःख होगा। इसप्रकार मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-आचरण दुःखरूप है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सुखरूप है।

* मैं स्वयं कैसा हूँ-यह जाने विना जीव अपनेमें स्थिर कैसे होगा?
* अजीवको अजीवरूप जाने विना उससे भिन्नता कैसे करेगा?
* दुःखका कारण कौन है उसको जाने विना उसका त्याग कैसे करेगा?
* और मोक्ष पूर्ण सुखरूप है उसको जाने विना उसके लिये प्रयत्न कैसे करेगा?

इसप्रकार सुख व उसका उपाय, तथा दुःख व उसका कारण, इनका ज्ञान करनेके लिये सात तत्त्वोंको पहचानना जरूरी है।

यदि अजीवको जीव मान लेगा तो उसमेंसे अपने उपयोगको कैसे हटायेगा?

शुभ-अशुभ ये दोनों आस्रव होनेपर भी उसको यदि संवर मान लेगा तो उसको छोड़ेगा कैसे?

यदि अजीव-देहकी क्रियाको अपनी मानेगा तो उस अजीवसे भिन्न आत्माका अनुभव कैसे करेगा?

सम्यग्दर्शन पूर्वक जो शुद्धता है वही सच्चा संवर है, उसको न जानकर यदि देहकी क्रियाको संवर मानेगा या रागको संवर मानेगा तो उससे भिन्न अपने आत्माका अनुभव कैसे करेगा?

—ऐसे तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानके विना मिथ्यात्व मिटता नहीं। अतः श्रीगुरु कहते हैं कि हे जीव! तेरा स्वरूप भगवानने जैसा कहा है वैसा तू जान। इसको जाने विना तेरी भूल छूटेगी नहीं और भ्रमण मिटेगा नहीं। आत्मज्ञानके विना बहुत शुभभाव करके जब स्वर्गमें गया तब भी साथमें अगृहीत मिथ्यात्वको लेकरके गया, इसकारण वहाँ भी दुःखी ही हुआ। आत्माके ज्ञानके विना कहीं भी सुखका स्वाद नहीं आता। [ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन]

उपयोग अर्थात् जानना-देखना, यही चेतनका रूप है। शरीर तो अजीव है जड है रूपी है, वह कुछ नहीं जानता। उपयोगलक्षणके द्वारा आत्मा देहसे भिन्न अनुभवमें आता है। अमूर्त आत्मा सबका जाननेवाला है। ज्ञानभावको पुण्यपाप-रूप मानना या देहरूप मानना सो मिथ्यात्व है, उसने जीवको

उपयोगरूप न मानकर, अजीवरूप या आस्रवरूप मान लिया यह विपरीत श्रद्धान् हुआ। अज्ञानी जीव तत्त्वोंका सच्चा स्वरूप न पहचानकर उनको एक-दूसरेमें मिला देता है। जाननेवाला चेतनतत्त्व जड़की भी क्रिया करे यह कैसे हो सकता है? उपयोगकी क्रिया जड़रूप कैसे होवे?-कभी नहीं हो सकती। चेतनरूप आत्मामें वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरूप मूर्तपना नहीं है, वह तो उपयोगरूप अमूर्त है, अतीन्द्रिय है; ऐसे आत्माकी पहचानसे ही सम्यग्-दर्शन होता है और मिथ्यात्व मिटता है। अतः श्रीगुरुओंने उसका स्वरूप समझाया है।

हे भाई! सर्वज्ञभगवानने सभी आत्माको सदा उपयोग-स्वरूप देखा है, वह अजीव कैसे हो?-या शरीररूप कैसे हो? आत्मा अपना उपयोगरूप छोड़ करके जड़रूप कभी नहीं होता। अतः ऐसा भेदज्ञान करके तू प्रसन्न हो और देहसे भिन्न आत्माको अनुभवमें ले। इसप्रकार सर्वज्ञदेवके देखे हुए उपयोगरूप आत्माको जो जानते हैं उसको सभी तत्त्वोंका सच्चा ज्ञान हो जाता है और विपरीतता दूर हो जाती है। उपयोगरूप आत्मा अजीव नहीं है अतः अजीवकी क्रिया वह नहीं करता।

प्रश्नः—अजीवका चलना-फिरना-बोलना यह तो जीव ही करता है न?-क्योंकि अजीवमें तो कोई शक्ति नहीं होती।

उत्तरः—ऐसा नहीं है; अजीवमें भी उसकी अनन्त शक्तियाँ

हैं और अपनी क्रियाएँ वह स्वयं अपनी शक्तिसे करता है। प्रत्येक जड़-रजकणमें उसके अनन्त जड़-गुण विद्यमान हैं और उसकी ही शक्तिसे उसमें स्वयं रूपान्तर होकर चलना-फिरना-बोलना आदि क्रियाएँ होती रहती हैं, और स्थिर रहना, मौन रहना यह भी उसकी एक क्रिया है। जीव उनको नहीं करता। इसप्रकार जीव-अजीवको भिन्न भिन्न समझना चाहिए। जीव-अजीवको सर्वथा भिन्न पहचाननेसे सम्यक् श्रद्धा होकर वीतराग विज्ञान प्रगटता है।

जगतमें भिन्न-भिन्न अनन्त जीव हैं, जीवसे अनन्तगुणे पुद्गल हैं, असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाश ये एक एक द्रव्य हैं। इन छह प्रकारके द्रव्योंमेंसे जीवको छोड़कर अन्य पांच अजीव हैं; और पुद्गलको छोड़कर शेष पांच अमूर्त हैं। जगतमें ये छहों प्रकारके द्रव्य सर्वज्ञदेवने स्वतंत्र भिन्न भिन्न देखे हैं; उनको स्वतंत्र न मानकर पराधीन मानना यह सर्वज्ञका अविश्वास है अर्थात् तत्त्वश्रद्धानमें विपरीतता है। छ द्रव्यके अस्तित्वरूप जो यह विश्व, उसका कोई कर्ता-हर्ता धर्ता नहीं है। कर्ता = उत्पादक; हर्ता = नाशक; धर्ता = धारण करनेवाला; द्रव्य स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भावसे अपनी अवस्थाका कर्ता-हर्ता व धर्ता है, दूसरा कोई न उसका कर्ता है, न हर्ता है, न धर्ता है।

छहों द्रव्योंमेंसे एक आत्मा ही उपयोगरूप है, इसलिये

आत्मा ही अनुपम है। अहो। जो सर्वज्ञस्वभावी महान पदार्थ है उसको उपमा किसकी दी जाय? अनादिकालसे आत्मामें सर्वज्ञस्वभाव है वह अन्य किसीमें भी नहीं है; शरीरमें नहीं, रागमें नहीं, ऐसा उपयोग ही जीवका लक्षण है। अलौकिक चीज आत्मा है, उसके स्वभावको अन्य कोई बाह्य पदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती, अपने स्वभावसे ही वह जाना जाता है। ऐसे आत्माको जब स्वानुभवसे जाने तभी सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शनसे रहित सभी शुभ क्रियाएँ विना इकाईके शून्यके समान हैं—धर्ममें उनका कोई मूल्य नहीं। जैसे चक्षुसे रहित मनुष्यकी शोभा नहीं होती, वैसे आँखे तो उपयोगरुप ज्ञान-दर्शन हैं, पुण्य-पाप ये जीवकी आंखें नहीं हैं, ये बाहरकी आंखें तो जड़ हैं। उपयोगस्वरूप निजात्माको जानने-देखनेरूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान जिसके नहीं खुले हैं उस अन्धेकी (ज्ञानांधकी) शुभ क्रियाएँ भी धर्मके लिये शोभा नहीं देती, अर्थात्के धर्मका कारण नहीं होती किन्तु संसारका ही कारण होती हैं। जो अपनेको न देखे, न जाने उसे धर्म कैसा? उसको तो सम्यक्त्वरूपी नेत्र ही नहीं खुले।

जीवादि सात तत्त्वोंको शुद्धात्मदृष्टिपूर्वक जानना चाहिए, जैसे कि-अजीवका ज्ञान ऐसा करना कि इसमें मैं नहीं हूँ, मेरेसे वह भिन्न है। उसी तरह रागको जानते

समय उससे चैतन्यकी भिन्नता समझना चाहिए। ऐसे भेदज्ञान-पूर्वक जानें तभी तत्त्वोंका सच्चा ज्ञान होता है। किन्तु जो शरीरको या रागको आत्माका स्वरूप मान ले उसको तत्त्वका सच्चा ज्ञान नहीं होता। जीव और अजीव ये दो मूलभूत तत्त्व हैं और शेष तत्त्व उनकी अशुद्ध या शुद्ध पर्याय हैं। इन सात तत्त्वोंकी पहचान करनेवाला जीव अपनेको अजीवसे भिन्न, उपयोगस्वरूप जानता है, अतएव अजीवके साथ एकता-बुद्धिको छोड़कर शुद्ध जीवस्वभावका आश्रय करके मिथ्या-त्वादि आस्रव-बन्धको छोड़ता है, और सम्यक्त्वादिरूप संवर-निर्जरा-मोक्षदशाको प्रगट करता है। सात तत्त्वोंके ज्ञानका यह फल है; अतएव मुमुक्षुको सात तत्त्वका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जीवने अनादिकालसे सात तत्त्वोंको यथार्थरूपसे नहीं जाना। यह तो वीतराग वाणीमें आई हुई प्रयोजनभूत बात है। सात तत्त्वमें उपयोगस्वरूप जीव मैं हूँ—ऐसी अनुभूति करनेसे मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व होता है।

मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? इसका सच्चा विचार भी जीवने कभी नहीं किया। जिसको चार गतिके घोर दुःखोंसे छुटकारा पाना हो उसको अपने अन्दरमें उपयोगस्वरूप आत्माका विचार करके उसकी पहचान करना चाहिए। शास्त्रकारोंने करुणा करके यही स्वरूप समझाया है।

जीवकी चाल अजीवसे न्यारी

[जीव–अजीवके बारेमें अज्ञानीकी भूल]

जिस भूलके कारणसे जीव संसारमें दुःखी हो रहा है उस भूलका स्वरूप समझाकर, उससे छुड़ानेके लिये यह उपदेश है—

[गाथा : ३]

पुद्गल–नभ–धर्म–अधर्म–काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल ।
ताको न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निजपिछान ॥३॥

उपयोगस्वरूप जीव है, इसके सिवाय पुद्गल, आकाश, धर्म, अधर्म काल–ये पांच अजीव हैं; जीवकी चाल उन अजीवोंसे न्यारी है । अजीव द्रव्योंसे जीवद्रव्य अलग, जीवके गुण अलग, और जीवकी परिणति अलग, ऐसे सर्व प्रकारसे भिन्नता है । पांच अजीव द्रव्योंमें कहीं भी उपयोग नहीं है, आत्मा ही उपयोगरूप है। जैसे शक्कर मीठी है वैसे जीव उपयोगमय है, उसकी चाल, उसकी दशा सबसे न्यारी है, उसका स्वभाव न्यारा है–जो अन्य किसीमें नहीं है । ऐसे जीवको न पहचानकर अज्ञानी देहको ही जीव मान लेते हैं। सो मिथ्यात्व है । उपयोगमें निजपिछान करनी चाहिए इसके बदलेमें देहमें निजपिछान की (देह ही मैं–ऐसा माना),

अपनेको उपयोगरूप न मानकर देहरूप माना; मैं बालक, मैं जवान, मैं बुड्ढा मैं काला, मैं सफेद, मैं खाता हूं, मैं बोलता हूँ-इसप्रकार देहको ही जीव मान लिया, परन्तु उससे अत्यन्त भिन्न अपनी उपयोग-चालको जीवने नहीं जाना। शरीरकी चाल तो अचेतनरूप है। चेतनरूप चाल अर्थात् चेतनरूप क्रिया जगतके अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। चाल माने स्वभाव, परिणित, क्रिया। जीव और अजीव दोनोंकी चाल, दोनोंका स्वभाव, दोनोंकी क्रिया अत्यन्त न्यारी है। ऐसे भेदज्ञानरूप वीतराग-विज्ञानके विना मिथ्यात्ववश जीव संसारमें परिभ्रमण करता है। -सो यह जीवकी भूल है।

जीव अपनी भूलको न देखकर दोषका भार कर्मोंके ऊपर डालनेकी चेष्टा करता है। परन्तु भाई! उस जड़ कर्मको तो कुछ जानकारी ही नहीं कि 'हम जड़ हैं और जीवको हम दुःख दें!' उस कर्मको भी जाननेवाला तो यह जीव है, उसने भूलसे ऐसा मान लिया कि यह कर्म मुझे हैरान कर रहे हैं। यह तो ऐसी बात हुई कि-जैसे कोई मूर्ख झाड़के ठूंठको या पत्थरके पुतलेको स्वय पकड़कर फिर ऐसा पुकारे कि 'अरे, इसने मुझे पकड़ा, इसने मेरेको बांधा,' लेकिन भाई! तू स्वयं अपनी भ्रांतिसे वधा है, उसने तुझे नहीं पकड़ा। अज्ञानी जीव भ्रांतिसे ऐसा मान रहा है कि यह शरीर ही मैं हूं। भाई! तुम तो चेतन, और वह जड़,-इन दोनोंका मिलान कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता;

दोनों जुदे ही हैं। अरे, अपने भावमें मिथ्यात्व क्या है— इसकी भी जीवको खबर नहीं है। अरिहंत भगवानका नाम ले लिया और कुदेवको न माना-इतनेसे मिथ्यात्व छूट नहीं जाता। अरिहन्तका नाम तो लेते हो परन्तु अरिहन्तदेवके कहे हुए तत्त्वोंको पहचानते नहीं हो; तो तुम्हारा मिथ्यात्व कैसे छूटेगा? अरिहन्तदेवकी कही हुई जीव-अजीवकी भिन्नताको जाने बिना मिथ्यात्व मिटेगा नहीं और अरिहन्त-देवकी भी सच्ची पहचान होगी नहीं। जो अरिहतदेवके सच्चे स्वरूपको पहचाने उसके मोहका नाश होकर सम्यक्त्व होता है।

* * *

मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वकी विपरीत (उल्टी) मान्यता वह दुःखरूप है और संसारका कारण है, अतः उसे छोड़नेके लिये उसकी पहचान कराते हैं। मिथ्यादृष्टिको शरीरमें ही 'अहम्' हो गया है, किन्तु उससे भिन्न अपनी चैतन्यजातिको वह नहीं देखता। जीव और अजीवके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सब भिन्न-भिन्न हैं, ऐसी भिन्नताका ज्ञान करनेसे मिथ्यात्व मिटता है और चार गतिके भवभ्रमणका दुःख छुटता है।

उपयोगस्वरूप चिन्मूर्ति जीव, इसके अतिरिक्त पांच द्रव्य अजीव हैं—

पुद्गलः—शरीर, भाषा ये सब पुद्गलकी रचना हैं, वह मूर्त है, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श उसका स्वभाव है।

धर्मास्तिकाय नामक एक अरूपी जड़ द्रव्य सारे लोकमें प्रसरकर रहा है; मछलीको पानीकी तरह यह द्रव्य जीव-पुद्‌गलके गमनमें निमित्त है।

अधर्मास्तिकाय नामक एक अरूपी जड़ द्रव्य सारे लोकमें फैलकर रहा है; पथिकको वृक्षकी छायाकी तरह यह द्रव्य जीव-पुद्‌गलोंके स्थिर होनेमें निमित्त है।

नभ अर्थात् आकाश नामक एक अरूपी जड़ द्रव्य सर्वव्यापी है,-जो सर्व पदार्थोंके रहनेमें निमित्त है। आंखोंसे जो ऊपरमें आकाश (बादल) दिख रहा है वह अमूर्त आकाश द्रव्य नहीं है, वह तो मूत पुद्‌गल स्कंधोंकी रचना है। अरूपी आकाश आंखसे नहीं दिखता। वह वह आकाश तो नीचे-ऊपर सभी दिशाओंमें सर्वत्र है।

काल नामक असंख्य अरूपी जड़ द्रव्य लोकमें सर्वत्र स्थित है, कुम्हारके चाककी धुरीकी तरह पदार्थोंके परिणमनमें वह निमित्त है।

जीवके अतिरिक्त ये पांचों द्रव्य अचेतन हैं, उनमें 'उपयोग' नहीं है, उपयोगके द्वारा जीवकी उनसे अधिकता है, जीवकी चाल उन सबसे न्यारी है। जीवमें ही स्व-परको जाननेका स्वभाव है, अन्य किसीमें नहीं।

चेतनको
है
उपयोग रूप
है

अहो ! जीव व अजीवकी कितनी भिन्नता है ! तो भी जीव उसको न जानकर विपरीत मानता है । शरीर या भाषा वह मैं नहीं, मैं तो ज्ञान हूँ; शरीर मैं नहीं किन्तु शरीरका जाननेवाला मैं हूँ,-इस प्रकार अपनेको ज्ञानस्वभावरूप पहचाननेसे मिथ्यात्व मिट जाता है ।

जीवादि तत्त्वोंके स्वरूपको विपरीत मानकर मिथ्यात्वके सेवनसे जीव दुःखको ही उत्पन्न करता है; देहमें आत्मबुद्धि कर-करके वह दुःखी होता है । जैसे दर्पणमें दिखनेवाले प्रतिबिम्बको ही कोई मूर्ख अपना रूप समझ ले और फिर उस प्रतिबिंबका नाश होने पर अपना ही नाश मानकर दुःखी होवे, वैसे अज्ञानी बड़ा मूरख अपनेको देहरूप ही मान रहा है । 'मैं मनुष्य,' 'मैं पुरुष' ऐसा-ऐसा मानकर शरीरकी चेष्टाओंको ही अपनी मान रहा है,-यह जीवतत्त्वके सम्बंधमें बड़ी भूल है । जाननेवाला उपयोगस्वभावी आत्मा है उसकी चाल जड़ देहसे जुदी है, उसको जुदा न जानकर

एक-दूसरेमें मिलाकर एकरूप मानता है, जड़कर्मका बांधनेवाला आत्मा, जड़शरीरको चलानेवाला आत्मा, इन्द्रियवाला आत्मा,-इस प्रकार जड़रूपसे आत्माको पहचानता है, यह पहचान सच्ची नहीं है। जीवको उपयोगस्वरूपसे पहचानना यही सच्ची पहचान है। और जब जीवकी ऐसी पहचान करे तब ही अरिहंत-सिद्ध-मुनि वगैरहकी सच्ची पहचान होती है।

क्या जीव शरीरको चलाता है? क्या जीव बोलता है? —ना, ये तो सब जड़की चाल है, आत्माकी चाल तो जाननेरूप है। पं. बनारसीदासजीने कहा है कि—

तनता, मनता, वचनता, जडता, जडसंमेल;
गुरुता, लघुता, गमनता ये अजीवके खेल।

अर्थात् तनकी, मनकी, वचनकी सब क्रियाएँ अजीवका खेल हैं; उस अजीवसे भिन्न जीवका विलास कैसा है? यह भी कहते हैं कि—

समता, रमता, ऊर्धता, ज्ञायकता, सुखभास;
वेदकता, चैतन्यता, ये सब जीवविलास।

हे भाई! देखो, यह अजीवसे भिन्न तुम्हारे आत्माका विलास! जीव उपयोगमय है, सुखमय है, इसकी तो पिछान नहीं करते हो और जड़ देहसे ही अपनी पिछान करते हो,

अर्थात् देह ही मैं हूं ऐसी मिथ्याबुद्धि करके देहको ही सम्हालनेकी चेष्टा करते हो; किन्तु हे मूर्ख ! उस शरीरमें तो जड़का अधिकार है, तुम्हारा नहीं। तुम्हारा अधिकार, तुम्हारा विलास, तुम्हारा आनन्द तुम्हारे उपयोगमें है, उस उपयोगकी सभाल करो। तुम्हारा अस्तित्व उपयोगमें है, देहमें नहीं, यदि देह नहीं होगा तो भी उसके विना तुम जीन्दे रहोगे, किन्तु उपयोगके विना एक क्षण भी जी नहीं सकोगे। जैसे सिद्ध भगवन्त देहके विना अपने उपयोगसे ही शाश्वत जी रहे हैं; वैसा ही तुम्हारा उपयोग-जीवन है। उपयोगके विना जीवका जीवन या अस्तित्व नहीं हो सकता। उपयोग-स्वभावमें अपना अस्तित्व होने पर भी जड़में अपना अस्तित्व मानते हैं और अपने उपयोग-जीवनको भूल जाते हैं, ऐसी महान भूलके होनेसे जीव निरन्तर महान दुःखको भोगते हैं। अब उस भूलको दूर कर दुःखसे छूटनेके लिये भेदज्ञानका यह उपदेश है। मुमुक्षुको यह भेदज्ञान बार बार घोलन करने योग्य है।

भाई ! जीव और पुद्गल दोनोंकी चाल एक-दूसरेसे भिन्न है, आत्मा कभी अपनी उपयोग-चालको छोड़कर पुद्गलकी चालमें नहीं जाता पुद्गलमें नहीं परिणमता। जीव और अजीव दोनोंकी परिणति अपने-अपनेमें भिन्न-भिन्न है, अपनी परिणतिके प्रवाहको छोड़कर दूसरेकी परिणतिमें कोई नहीं जाता।

मैं देहसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ-ऐसे अनुभवके बिना देहबुद्धि मिटेगी नहीं। देह आत्मा है-ऐसा भले सीधा न कहे, देह व आत्मा भिन्न है-ऐसा शास्त्रसे सुनकर कहे, परन्तु जिसके अन्तरमें ऐसी बुद्धि है कि-देहका कार्य मैं करूँ, मेरे अस्तित्वके कारणसे देह टिक रहा है, या देहकी क्रिया मुझे धर्ममें सहायता करती है,-तो ऐसी मान्यता वालेको देहके साथ एकत्वकी कुबुद्धि विद्यमान ही है; वह देहमें ही आत्माका अस्तित्व मान रहा है, (करे देहमें निजपिछान) देहसे भिन्न अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व उसको दिखता ही नहीं।

मैं इन्द्रियोंसे ज्ञान करनेवाला हूँ ऐसा जो मानता है उसने जड़-इन्द्रियोंको ही आत्मा मान रखा है; इन्द्रियोंसे भिन्न उपयोग स्वरूप आत्मा उसने नहीं जाना। ज्ञानका व इन्द्रियोंका एक-दूसरेसे कोई संबंध नहीं है, एक चेतन है, दूसरा जड़ है, दोनोंकी चाल न्यारी है, दोनोंका स्वभाव न्यारा है। इन्द्रियोंसे ज्ञान माननेवालोंने अपना अस्तित्व इन्द्रियोंमें माना है। जबतक देहमें एकत्वबुद्धि रहे, और उससे अपनी भिन्नता न जाने तबतक जीवको सामायिक आदि कोई धर्म नहीं होता। जहां मिथ्यात्व है वहां सामायिक-प्रतिक्रमणादि कैसा? शरीर स्थिर बैठनेकी क्रिया मैंने की, अथवा दो घड़ी तक शरीर बैठा इससे मुझे धर्म हो गया-ऐसा जो मानता है उसने आत्माको देहसे भिन्न नहीं

माना, उसने 'कायोत्सर्ग' (कायाका ममत्व-त्याग) नहीं किया अपितु 'कायाकी पकड़' की है-ममता की है। हे भाई! देहका काम तुम्हारा नहीं है, अज्ञानीने भी देहका काम कभी नहीं किया, मात्र झूठ मान लिया है, और यह मिथ्या मान्यता ही घोर दुःखका मूल है।

मिथ्यात्व बड़ा पाप है, उस पापका त्याग किये विना अव्रत कषायादिका भी त्याग नहीं हो सकता। इस प्रकार जिसको देहमें आत्मबुद्धि है और ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्माको जो नहीं जानता वह जीव मिथ्यात्वके कारणसे जन्म-मरणके बहुत दुःखोंको भोगता है। (भ्रमत भरत दुःख जन्म-मर्ण।) मिथ्यात्वके रहते हुए चाहे जो करो किन्तु दुःख मिटेगा नहीं और सुख होगा नहीं। अतः मिथ्यात्वको महा दुःखदायक जानकर तुरत छोड़ देना चाहिए और आत्माकी पहचान करनी चाहिए।

हे आत्मन्! तू उपयोगस्वरूप है;
जड़ शरीररूप तू नहीं है।
शरीरके विना तू जियेगा,
उपयोगके विना तू नहीं जियेगा।

जीव–अजीवके बारेमें विशेष भूल

जीव उपयोगस्वरूप है उसको अज्ञानी नहीं पहचानता; जीव और देहकी चाल भिन्न-भिन्न है ऐसा न जानकर उनको एकमेक मानता है और अपनेको देहरूप ही समझकर उसमें निजपिछान करता है;–ऐसी अज्ञानीकी भूलका कथन गाथा २–३ में किया। अब, अपनेको देहरूप माननेसे और भी कौनसी भूल होती है यह दिखाते हैं—

[गाथा : ४]

मैं सुखी-दुःखी मैं रंक-राव, मेरे धन–गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप-सुभग मूरख-प्रवीन ॥ ४ ॥

चिन्मूर्ति उपयोगस्वरूप मैं हूँ–यह भूलकर अज्ञानी जीव अपनेको शरीररूप मानता है; अतः शरीर सम्बन्धी स्त्री–पुत्रादि पदार्थोंको भी वह अपना मानता है; शरीरकी अवस्थाको लेकर मैं बलवान या मैं दीन ऐसा वह मानता है; धन–गृह–गाय–भैंस –रेडियो–मोटर ये सब मेरे ही हैं, शरीर अच्छा हो तब मैं सुखी और शरीर रोगी हो तब मैं दुःखी–ऐसा मानता है; परन्तु शरीरकी जाति तो जड़ है, तुम तो चैतन्यजातिके हो। तुम्हारी चैतन्यजाति स्वयं सुखस्वरूप है परन्तु मिथ्यात्वके

कारण अपनी चैतन्यजातिको भूलकर, देहकी जाति अपनी मानकर दुःख उत्पन्न किया है। उस मिथ्यात्वका नाश करने पर आत्मा स्वयं अपने आप आनन्दस्वरूप है, सुख अपनेमें ही है, देहमें कुछ सुख नहीं है। मिथ्यात्वादिके अभावसे आत्मामें रागरहित जो सहज आनन्द अनुभवमें आता है वह सुख है, इसके सिवाय कहीं भी बाहरमें देह-स्त्री-धन-बंगला-मोटर आदिमें सुख मानना वह तो मिथ्या कल्पना है। आत्मा पर वस्तुका वेदन नहीं करता, परन्तु परके प्रति राग करके उस रागके वेदनसे अज्ञानी अपनेको सुखी मानता है, और परको मैंने भोगा ऐसा मानता है, सुख परभावोंमें नहीं है, संयोग एवं परभावोंसे रहित आत्माको दृष्टिमें लेने पर जो सुखका वेदन हुआ वही सच्चा सुख है।
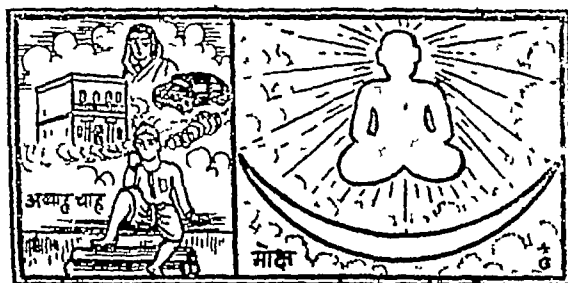
रेडियो-मोटर-मकान-तिजोरी, ये तो सब जड़ हैं, उनमें सुख कैसा ?—जो उनमेंसे सुख लेना चाहता है वह अपने आत्माके सच्चे सुखको भूल रहा है। अरे, स्वयं तुम ही

जीव होते हुए भी तुमने जीवकी चालको जानी नहीं, जीवका जीवन जाना नहीं, और मूढ़ होकर अजीवमें अपना अस्तित्व मान रखा है;–क्योंकि जिसमें जीव अपना सुख माने उसमें वह अपना अस्तित्व मानता ही है।

अज्ञानीने बाह्य वस्तुको निजरूप मान ली है, अतः वह बाह्यकी अनुकूलतासे अपनेको सुखी मानता है और प्रतिकूलतासे दुःखी मानता है। जो अनुकूलतामें सुख माने वह प्रतिकूलतामें दुःख माने बिना नहीं रह सकेगा, अतएव उसको सच्चा समभाव नहीं रहेगा। देहमें रोग आनेपर 'अरे, मैं मर गया, मेरे जैसा कोई दुःखी नहीं' ऐसे वह अज्ञानी दुःखी होता है। यद्यपि देहकी अनुकूलताके समय भी मोहबुद्धिसे वह दुःखी ही है, परन्तु देहबुद्धिकी आड़में उसे वह दुःख दिखता नहीं। आत्माका सुख कैसा है उसको लक्षमें लिये बिना दुःखकी भी पहचान नहीं होती। जैसे दुर्गन्धी विष्टाका कीड़ा उस विष्टामें भी सुख मान रहा है वैसे मोहका कीड़ा (मिथ्यादृष्टि) मोहमें सुख मानता है; रागमें सुख मानता है।

अन्य लोग निरोगी और मैं रोगी, दूसरा धनवान और मैं निर्धन, दूसरोंको स्त्री-पुत्रादि और मेरेको कुछ नहीं, दूसरा सुरूपवान और मैं कुरूप, दूसरेको बड़ी बड़ी पदवियाँ और मुझे छोटीसी नौकरी,—इसप्रकार संयोगमें ही अपना अस्तित्व देखता हुआ अज्ञानी दुःखी होता है। अरे जीव!

क्या उनमें कहीं तेरा अस्तित्व है? -नहीं, तुम तो उत्कृष्ट चैतन्यरूपके धारक हो; सर्वज्ञपदसे भरी हुई तुम्हारी आत्म-विभूति जगतमें सर्वोत्कृष्ट है; अरे! तुम जड़ देहमें मूर्छित क्यों हो गये? तुम विज्ञानघन आनन्दमूर्ति भगवान अपनेको भूलकर मृतककलेवर शरीरमें कैसे मोहित हो गये हो? शरीरकी अवस्थासे तुम अपनेको सुखी-दुःखी मानते हो यह महान् भूल है। पैसेवाला मैं, अथवा गरीब मैं-यह भी बाह्यबुद्धि है। जब शरीर भी तुम्हारा नहीं तब धन-पुत्र-मकान आदि तुम्हारे कैसे हो गये? उनका तो क्षेत्र भी तुमसे दूर है, तो वे तुम्हारे कहांसे हो गये? पैसेके द्वारा तुम धनवान या गरीब नहीं हो, तथापि तुम तो चैतन्यलक्ष्मीका निधान हो, आनन्दका भण्डार हो, जिसकी प्रीतिके बल पर छहों खण्डकी विभूतिका मोह क्षणमें छूट जाये ऐसी अनन्त चैतन्यसम्पत्तिका भण्डार तुम हो, अतः दीनता छोड़कर अपनी चैतन्यसम्पदाको सम्भालो।

बाह्य कार्य करनेकी बुद्धिसे हो-हा-हल्ला मचाके लोग मिथ्यात्वका सेवन करते हैं किन्तु अपने स्वतत्त्वकी सम्भाल नहीं करते। जड़के संयोगसे मैं राजा या मैं रंक-ये दोनों मान्यता मिथ्या हैं। पैसे तो पुद्‌गलकी रचना है, वे जीवकी रचनासे नहीं बनते, जीवकी रचना तो ज्ञानमय होती है, जड़रूप नहीं होती। असंगी चैतन्यको भूलकर परसंगको अपना माननेसे जीव दुःखी होता है। कोई जीव 'मेरे रुपये'

ऐसा तीव्र मोह करनेसे मरकर उसी रुपयेके डिब्बेमें ही उत्पन्न होता है। मानों रुपया ही जीव हो-यों उसके पीछे जीवन खो देता है। -किन्तु हे भाई! तेरा जीवन रुपयेके अभावरूप चैतन्यमय है; रुपयेके बिना ही तेरा आनन्द तेरेमें है। तू कहता है बंगला मेरा, घर मेरा, परन्तु वह तो मिट्टीका है; तेरा घर तो चैतन्यमय है; चैतन्यधाममें तेरा वास है, जड़-ईंटोंके ढेरमें तेरा वास नहीं है। चैतन्यमय निजघरको भूलके पर घरमें—रागमें या पत्थरके मकानमें, झोंपड़ेमें जीव अपनेपनकी बुद्धि करता है और मोहसे संसारमें रुलता है,—बार बार देहरूपी घर बदलता रहता है। वीतरागी सन्त उसको असंख्यप्रदेशी अविनाशी आनन्दका धाम ऐसा निजघर दिखाते हैं। हे जीव! तू निजघरमें कभी न आया और बाह्यमें चारगतिरूप परघरमें ही भ्रमता रहा; अब तो निजघरमें आ!

इस छहढालाके रचयिता पं० दौलतरामजीने ही एक भजन बनाया है, उसमें कहते हैं कि:—

हम तो कबहू न निजघर आये......हम तो०
परपद निजपद मान मगन है, पर परिणति लिपटाये,
शुद्ध-बुद्ध-सुखकंद-मनोहर,—चेतन भाव न भाये. हम तो०
नर-पशु-देव-नरक निज मान्यो, परजयबुद्धि लहाये;
अमल-अखण्ड-अतुल-अविनाशी आतमगुण नहीं गाये...
हम तो कबहुँ न निजघर आये।

पत्थरका मकान या शरीर यह तो जड़की रचना है; उस जड़भुवनमें आत्माका निवास नहीं है; आत्माका सच्चा निवास तो ज्ञान व सुखका धाम है;-ऐसे आत्मभुवनमें हे जीव! तू आ! अपने निजघरको पहचानकर उसमें तु चल।

पहलेके श्रीमन्त लोग अनेक गाय-भैंस रखते थे और उसको वे अपना धन गिनते थे, गाय-भैंसके स्थानमें अब तो घर-घरमें रेडियो व मोटर हो गये हैं। परन्तु वे गाय-भैंस या मोटर-रेडियो कुछ भी जीवका नहीं है। जीव व्यर्थ ही उनके पीछे अपना जीवन गँवाता है। वह कोई भी जीवको शरणरूप होनेवाले नहीं हैं। राजपद या प्रधानपद भी अनन्तवार मिल चुका परन्तु वे कोई जीवके पद नहीं वे तो अपद हैं, जीवका पद तो चैतन्यमय है। धन-शरीरादि यदि जीवके हों तो वे जीवके साथ ही रहने चाहिए और परभवमें भी साथमें आने चाहिए। मरणके समय वे तो सब यहां पडे रह जायेंगे, उनके पीछे जीवने कितने भी पाप किये हों तो भी वे जीवके साथ एक डग भी आनेवाले नहीं हैं।

मृत्युके समय जीव शरीरसे कहता है कि—हे शरीर! हे मेरे मित्र! तू मेरी साथ चल; जिन्दगी भर हम-तुम साथ रहे अतः अब तू भी मेरे साथ चल!

तब शरीर कहता है कि-मैं तो नहीं आऊँगा।

जीव कहता है—अरे, यह क्या? मैंने तो तेरी संभालके

पीछे सारा जीवन व्यर्थ कर दिया, और बहुत पाप करके तेरा पोषण किया; अतः थोड़ी सी दूरी तक तो मेरे साथ आ!

शरीर कहता है कि—एक डग भी मैं नहीं चलूँगा। तुम तुम्हारे रास्ते, हम हमारे रास्ते। तुम्हारे भावोंका फल भोगनेको अन्य गतिमें तुम अकेले चले जाओ; और मैं तो यहीं भस्म होकर मिट्टीमें मिल जाऊगा। हमारी तुम्हारी दोनोंकी चाल न्यारी है, दोनोंका रास्ता पृथक् २ है; तुमने भ्रमसे मेरे साथ एकता मानी थी, वह तुम्हारी ही भूल थी।

—जबकि जीवन भर एक क्षेत्रमें साथ रहनेवाले शरीरकी भी यह स्थिति है, तब फिर प्रत्यक्ष भिन्न रहनेवाले पुत्र-स्त्री या मकान आदिका तो कहना ही क्या? वे तो जीवनमें भी जीवको छोड़कर चले जाते हैं। जीव व्यर्थका मोह करके दुःखी होता है। मेरी माता, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी बहिन, मेरा भाई,—ऐसे। ममत्व करता है, परन्तु हे जीव! तू तो ज्ञान है, तू तो आनन्द है; ऐसे अपने ज्ञान-आनन्दको अनुभवमें ले; वे तुझसे कभी जुदे नहीं होवेंगे। माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन तो जुदे ही हैं; ये यदि आत्माके होते तो जुदे क्यों पड़ते? और उनके बिना आत्मा कैसे टिकता? आत्मा तो उन सबसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप है; उसका ज्ञान उससे कभी जुदा नहीं पड़ता! ऐसे ज्ञानस्वरूपसे जब अपनेको अनुभवमें ले तभी आत्माका सच्चा ज्ञान होता है, और तभी

आत्माको परसे भिन्न माना कहलाता है। परको अपना माने, और आत्माको ज्ञानरूप भी जानें—ऐसी दो विरुद्ध बात एक-साथ नहीं बन सकती।

शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, इच्छानुसार खान-पानादि होता हो, वहाँ जीव मान लेता है कि मैं बलवान हूं। परन्तु अरे मूर्ख! तू देहका अभिमान क्यों करता है? तेरी आत्मामें मिथ्यात्वका बड़ा रोग हुआ है। अमूर्त आत्मा मूर्तिक आहारको कैसे खावे? आत्मा तो देह और आहार दोनोंसे भिन्न है। अठारह सालका एक युवान अपने दोनों हाथसे दो आदमीको ऊपर उठाता था, वही जब मरण-सन्मुख हुआ तब कुछ बोलनेकी भी शक्ति न रही, और दूसरे दो आदमीने उसको उठाया। भाई! देहका बल आत्माका कहाँ है? और देह निर्बल होनेपर आत्मा कहाँ निर्बल हो जाता है? हिंदुस्तानका एक बड़ा पहलवान,—जो दौड़ती मोटरगाड़ीको पकड़कर रोक देता था, और अपनी छाती पर हाथीको चलाता था,—तथापि मृत्युके समय अपनी आँख परकी मक्खी उड़ानेकी ताकत भी नहीं रही।--कहाँ गया उसका बल?—वह बल आत्माका था ही नहीं, आत्मा तो उस समय भी अन्दर विद्यमान था, और बहुत इच्छा भी की थी, परन्तु शरीरमें उसका क्या चले? भाई! देहका बल तेरा है ही नहीं, और देहकी निर्बलता भी तेरी नहीं है; तू तो ज्ञान है, ज्ञान ही तेरा रूप है।

शरीर सुन्दर रूपवाला हो या कुरूप हो, उन दोनोंसे आत्मा भिन्न है। सचमुचमें तो आत्माका चेतनस्वरूप ही सुन्दर है। परन्तु अपने सुन्दर निजरूपको न देखकर अज्ञानी शरीरकी सुन्दरतासे अपनी शोभा मानता है, और शरीर कुरूप होनेपर अपनेको हीन समझता है। भाई, कुरूप शरीर केवलज्ञान लेनेमें कोई विघ्न नहीं करता, और सुन्दररूपवाला शरीर केवलज्ञान लेनेमें कुछ मदद भी नहीं करता। अनेक जीव सुन्दर रूपवाले होकर भी पाप करके नरक गये हैं, एवं कुरूप शरीरवाले भी अनेक जीव आत्मज्ञान करके मोक्ष गये हैं। यद्यपि तीर्थंकरादि उत्तम पुरुषोंके तो देह भी लोकोत्तर होते हैं, किन्तु वह भी आत्मासे तो भिन्न ही है। देह आत्माकी वस्तु नहीं है। देहसे भिन्न आत्माको जो पहचाने उसने ही भगवानको सच्चे रूपसे पहचाना है। जो देह है वह भगवान नहीं है, भगवान तो अन्दरमें चैतन्यमूर्ति केवलज्ञानादि गुण-सहित जो विराजमान है—वह है। प्रत्येक आत्मा ऐसा चेतनरूप है, शरीर सुन्दर हो या कुरूप,—वह जड़का रूप है, आत्मा उस रूप कभी नहीं हुआ। जो जड़ है वह तीनोंकाल जड़ ही रहता है, और जो चेतन है वह तीनोंकाल चेतन ही रहता है। जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं होते, शरीर और आत्मा सदैव जुदे ही हैं। ऐसे आत्माको अनुभवमें लेनेसे सम्यग्दर्शन होकर अपूर्व शांति होती है। ऐसे आत्माकी धर्मदृष्टिके विना मिथ्यात्व मिटता नहीं, दुःख टलता नहीं और शांति होती नहीं।

हे भाई! तुम अपने मुँहपर सफेद धूलि (पाउडर) या रंग (लिपस्टिक) लगाकर शरीरको अच्छा दिखाना चाहते हो, परन्तु उस शरीरकी शोभाके द्वारा तुम्हारी तो कोई शोभा नहीं है, तुम्हारी शोभा तो तुम्हारे निजी गुणोंसे है; सम्यग्दर्शनादि अपूर्व रत्नोंके द्वारा ही आत्मा शोभता है। शरीर तो जड़, अर्थात् चेतनसे रहित मृतक कलेवर है,—क्या उसकी सजावटसे आत्माकी शोभा है?–नहीं, भाई! सम्यक्त्वरूपी मुकुटसे और चारित्ररूपी हारसे तुम्हारे आत्माको अलंकृत करो। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रयसे आत्माकी शोभा है। चेतनभगवानकी शोभा जड़ शरीरके द्वारा नहीं होती; अतः देहदृष्टि छोड़कर आत्माको पहचानो–ऐसा उपदेश है।

अज्ञानी देहादि संयोगमें आत्म–संकल्प करता है सो भूल है, यह बात की, अब यह समझाते हैं कि पर्यायमें इन्द्रिय-ज्ञानरूप अपनी अल्प ज्ञानपर्याय जितना ही अपनेको मानना वह भी भूल है। पर्यायमें ज्ञानकी मन्दता देखकर पर्यायबुद्धिवाला जीव ऐसा समझ लेता है कि मैं मूर्ख हूँ, मुझे कुछ भी नहीं आता, परन्तु अरे भाई! तुम तो केवलज्ञान लेनेकी ताकतसे भरे हो। अल्प पर्याय जितना ही तुम नहीं हो, अनन्त केवलज्ञान निधान तुममें भरा है, उसकी श्रद्धा करो। पर्यायमें ज्ञान अल्प होने पर आत्माको उतना ही समझकर अपनेको मूर्ख मान लिया, और आत्मामें केवलज्ञानस्वभाव है उसको भूल गया। हे जीव, अर्हन्तोंको सर्वज्ञता

कहांसे आई? आत्मामेंसे आई;-तो सर्वज्ञस्वभाववाला तेरा आत्मा भी है, उसको लक्षमें ले तो तेरी पर्यायमें मूर्खता नहीं रहेगी, तेरा ज्ञान विकसित होकर केवलज्ञान हो जायगा। अहा, चैतन्यकी अपार ताकत!-उसमें मूर्खता कैसी!

उसी प्रकार, पर्यायमें कुछ बुद्धि देखकर अज्ञानी ऐसा समझ लेता है कि मैं बहुत प्रवीण हूं, मुझे सब कुछ आता है; इसप्रकार पर्यायबुद्धिसे अल्प ज्ञानका अभिमान करता है; परन्तु हे जीव! अपने केवलज्ञानस्वभावकी महानताको तू भूल रहा है, अतः थोडेसे ज्ञानमें तेरेको बहुत अधिकता दिखती है। अरे, केवलज्ञानके अपार सामर्थ्यके सामने तेरे तुच्छ ज्ञानकी क्या गिनती है? अपने सर्वज्ञस्वभावी आत्माको प्रतीतमें लेते ही अल्प ज्ञानका तेरा अभिमान उड़ जायगा और पर्यायबुद्धि छूट जायगी। बाहरकी अनेक प्रकारकी जानकारीमें तेरी चतुराई आत्महितके लिये कोई कामकी नहीं। अन्तर्मुख ज्ञानके द्वारा आत्माको जान, वही सच्ची होशियारी है। आत्माकी जागृति जिसमें न हो वह तो बेहोशी है,-उसे होशियारी कौन कहे? जिसने कभी समुद्र नहीं देखा वही कूप-मेंढककी तरह गंदे पानीके छोटे गड्ढेको महान समझता है किन्तु अगाध स्वच्छ समुद्रके सामने गंदे पानीके गड्ढेकी क्या गिनती? वैसे आनंदसे भरा स्वच्छ अगाध चैतन्यसमुद्र जिसने नहीं देखा वही कुज्ञानके अल्पविकासके अभिमानमें अटक जाता है, परन्तु सर्वज्ञस्वभावसे भरे हुए अगाध समुद्रके

सामने उसके अल्पज्ञानका छोटे गड्ढे जितना भी मूल्य नहीं है।

—इसप्रकार शरीरसे लेकर कुज्ञानके अल्प उघाड तकके भावमें जिनको एकत्वबुद्धि है उन सभीने जीवतत्त्वको नहीं पहचाना; जीवतत्त्वका सच्चा स्वरूप समझनेमें उनकी भूल है। ऐसी भूलके कारण जीव अनादिसे चार गतिमें रूलता हुआ अनंत दुःख भोग रहा है। -जिनका वर्णन सुननेसे भी दिल कांपने लगे-ऐसे दुःखोंका थोड़ासा कथन पहली ढालमें किया। हे भाई! ऐसे दुखोंसे छूटनेके लिये, वीतरागविज्ञानके द्वारा आत्माका सच्चा स्वरूप समझो और अपनी मिथ्यात्वरूप भूलको दूर करो,-ऐसी श्री गुरुकी शिक्षा है।

आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। उसमें अतिरेक (अतिव्याप्ति) करके जो परको भी उससें मिलाता है (अर्थात् शरीरादि अजीवको भी जीव मानता है) उसकी मान्यता विपरीत है-मिथ्या है। ज्ञान जिसकी चाल है, ज्ञान जिसका निजरूप है, ज्ञान जिसका भाव है, ज्ञान जिसकी संपदा है-ऐसे आत्मामें किसी भी परपदार्थको अपना मानना वह आत्माकी अतिव्याप्ति रूप मिथ्याश्रद्धा है,-वह परद्रव्यके भावोंको अपनेमें मिलाना चाहता है। जहां ऐसा मिथ्यात्व हो वहां किसी भी तरहका धर्म या सुख नहीं होता। आत्मा ज्ञानानंद है-उसके वेदनके विना धर्म कैसा? और सुख कैसा? शरीरादिकी क्रियाओंसे धर्म हो यह मान्यता भूलसे भरी हुई है, क्योंकि शरीरादि

संयोगमें आत्मा नहीं है, संयोगसे आत्माको दुःख-सुख नहीं है; अतः संयोगसे भिन्न जीवको पहचानना चाहिए। इसप्रकार जीव-अजीवका यथार्थ स्वरूप जानकर भेदज्ञान करनेसे मिथ्यात्व मिट जाता है और जीवका अपूर्व हित प्रगट होता है।

अरे, जैनपरम्परामें आकरके भी जीवने यदि अजीवसे भिन्न अपनी पहचान न की तो उसको क्या लाभ? जीव-अजीवकी भिन्नताको जाने बिना सच्चा जैनत्व नहीं होता अतः दुःख मिटता नहीं और सुख होता नहीं। कोई जीव बाह्यमें शुभरागसे भले त्यागी-दिगंबरसाधु भी हो जाय परन्तु अन्तरमें यदि ऐसा मानता हो कि-'यह देहादिकी क्रियाएँ मेरी हैं, यह शुभराग है वह मोक्षका साधन है'-तो वह मिथ्यादृष्टि ही है, जिनभगवान उसको जैन नहीं कहते,-साधुपनेकी तो बात ही क्या? अरे भाई! जो देहकी क्रिया है वह तो जड़की क्रिया है, उसका कर्त्ता तुम कैसे हो गये? यदि तुम जड़के कर्त्ता बनोगे तो तुम भी जड़ हो जाओगे,-क्योंकि जड़ ही जड़का कर्ता होता है। रागादिको तो किसी अपेक्षासे आत्माकी क्रिया कह भी सकते हैं-क्योंकि वह आत्माकी पर्यायमें है; परन्तु भाषा वगैरह तो व्यवहारसे भी आत्माकी पर्याय नहीं है, वह तो जड़की पर्याय है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जो अपनेको जड़ पर्यायका कर्ता मानता है उसको जड़से भिन्न आत्माका ज्ञान नहीं है।

जैसे परद्रव्य आत्माके नहीं हैं और परद्रव्यके काम आत्मा नहीं करता, वैसे परद्रव्य भी आत्माका भला-बुरा नहीं करते, क्योंकि पदार्थ स्वय इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं। यदि पदार्थ ही इष्ट या अनिष्ट हो तब तो, जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सभीको इष्टरूप ही होना चाहिए, और जो पदार्थ अनिष्ट-रूप लगना चाहिए, परन्तु ऐसा तो नहीं होता। जीव स्वयं ही कल्पना करके किसी पदार्थको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानता है; वह उसकी कल्पना असत्य है।

जिनको उपयोगस्वरूप जीव वस्तुका अनुभव नहीं है वे अनेक प्रकारसे कहीं-न-कहीं मिथ्या अभिप्राय करते हैं। कहीं बाह्य संयोगमें, कहीं देहकी क्रियामें, भाषामें या आगे चलकर रागमें आत्माका स्वरूप मानकर रुक जाते हैं, परन्तु उन सभीसे भिन्न शुद्ध उपयोगरूप अपनेको वे नहीं जानते। शुद्ध जीव स्वभावमें रागका भी कार्य नहीं, तब फिर जड़का कार्य उसमें कहांसे होगा? जो आत्माका स्वरूप नहीं है उसको आत्माका स्वरूप मान लेना वह स्वतत्त्वकी बड़ी भूल है; 'अपनेको आप भूलके हैरान हो गया'-जीव स्वयं अपना स्वरूप भूलकर महा दुःखी होता है। अत आचार्यदेव कहते हैं कि उस भूलको तुम छोड़ो, और शुद्ध जीवतत्त्वका सच्चा स्वरूप पहचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करो।

इस गाथामें जीवतत्त्वमें अज्ञानीकी भूल दिखलाई, आगे,

अजीव एवं आस्रवादि तत्त्वोंके संबंधमें भी अज्ञानी जीव कैसी भूल करते हैं-यह दिखायेंगे ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या विन ज्ञान चारित्रा;
सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
"दौल" समझ, सुन, चेत, सयाने, काल वृथा मत खोवै
यह नरभव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहि होवे ॥

अजीव और आस्रव संबंधमें भूल

उपयोगलक्षणरूप जीवका सच्चा स्वरूप न पहचाननेसे सातों तत्त्वके ज्ञानमें जीवको पहचान कराकर उसको छोड़ने-का यह उपदेश है—

[गाथा-५]

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट ये दुःखदैन, तिनहीको सेवत गिनत चैन ॥ ५ ॥

इस गाथामें जीवकी दो भूल दिखायी हैं—एक तो देहमें आत्मबुद्धि, और दूसरी रागमें आत्मबुद्धि, वास्तवमें वह स्वयं चैतन्यस्वरूप आत्मा नित्य है, उसे न जन्म है न मरण, ऐसा अपनेको न पहचानकर अज्ञानी जीव शरीरकी उत्पत्ति होनेसे अपनी ही उत्पत्ति मानता है और शरीरका नाश होने पर अपना ही नाश मानता है; इस प्रकार अपनेको देहरूप ही मानता है।

शरीरके उपरान्त रागको वह भी अपना स्वरूप मानता है। आत्माका स्वभाव तो शांत निराकुल ज्ञानस्वरूप है, और रागादि भाव प्रगटरूपसे दुःखदायक हैं, आकुलतारूप हैं, तो भी जीव उसको सुखरूप मानकर उनका सेवन करते हैं।

इस प्रकार अज्ञानी जीव अपनेको अजीवसे तथा आस्रवोंसे भिन्न नहीं पहचानता, वह उसकी भूल है।

जिसने आत्माको देहरूप माना उसने अपनेको अजीव माना। शरीर और आत्माको एक-दूसरेमें मिलाकर दोनोंको एक मानता है; ऐसी जीव-अजीवकी भूल जीव अनादिसे कर रहा है; जीव और अजीव दोनों अत्यंत भिन्न होने पर भी वह उनको भिन्न नहीं जानता। देह तो संयोगी वस्तु है, उसका वियोग अवश्य होगा, हे जीव! इस देहका संयोग होनेके पहले तेरा अस्तित्व था, और देहके वियोगके बाद भी तेरा अस्तित्व रहेगा,-ऐसे तेरे त्रिकाली अस्तित्वका विचार कर तो क्षणिक देहमें तुझे आत्मबुद्धि नहीं रहेगी। जन्म-मरण तो देहके सयोग-वियोगकी अपेक्षासे हैं, जीव स्वय अपने उपयोगस्वरूपसे नित्य टिकनेवाला है, उसका न जन्म है, न मरण। तुम नित्य और देह क्षणभंगुर, तुम चेतनसत्ता और देह जड़, इन दोनोंमें एकता कैसी? दोनों अत्यंत भिन्न हैं, दोनोंके बीचमें 'अत्यंत अभाव' रूपी बड़ा पहाड़ खड़ा है।

जीव और शरीर अत्यत जुदे हैं, एवं प्रत्यक्ष भी देखनेमें आता है कि वे भिन्न हो रहे हैं-तभी तो जीवके चले जाने पर देहको जला देते हैं। ऐसी भिन्नता होने पर भी जीव अपनेको देहसे भिन्न नहीं पहचानता।

'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' में प. टोडरमलजी कहते हैं कि जीव मिथ्यात्वके कारण अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्त्वश्रद्धान करता है। वस्तुस्थिति जैसी है वैसी नहीं मानता, परन्तु जैसी नहीं है वैसी वह मानता है। अमूर्तिक प्रदेशोंका पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंका धारक, अनादिनिधनरूप आत्मा आप स्वयं है, तथा मूर्तिक पुद्गलद्रव्योंका पिंड, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणोंसे रहित, नवीन ही जिसका संयोग हुआ है ऐसा शरीरादि पुद्गल है,-वे अपनेसे अन्य हैं; इन दोनोंके (-आत्मा और शरीरके) संयोगरूप अनेक प्रकारकी मनुष्य-तिर्यंचादि पर्यायें होती हैं, उन पर्यायोंमें मूढ़ जीव अहंबुद्धि धारण कर रहा है, उनमें स्व-परका भेद नहीं जानता। जो पर्याय प्राप्त हुई उसी रूप अपनेको मान लेता है भेदज्ञान नहीं करता। उस पर्याय-में जो ज्ञानादिक गुण हैं वह तो अपना स्वभाव है, जो रागादिक भाव है वह उपाधिरूप परभाव है, और जो वर्णादिक है वह अपना भाव नहीं किन्तु पुद्गलके गुण हैं, -ऐसा पृथक्करण न करके वह जीव अज्ञानसे उन सर्वको ही अपना निजस्वरूप मान लेता है, उनमें स्वभाव-परभावका, या जीव-अजीवका विवेक वह नहीं करता। -ऐसा मिथ्यात्व-भाव जीवको अनादिसे चल रहा है, कभी उसमें तीव्रता और कभी मंदता होती है, परन्तु आत्मज्ञानके बिना उसका भान नहीं होता, और जीवका दुःख नहीं मिटता। जीवादि पदार्थोंका जैसा स्वरूप है वैसा ही पहचानकर श्रद्धान करे

तभी जीवका मिथ्यात्वभाव छूटे व दुःख मिटे। जैसे कोई जीव मोहमुग्ध होकर मुर्दको जीवंत समझ ले, या उसको जीलाना चाहे, तो इससे वह स्वयं दुःखी ही होगा; मुर्दा जीन्दा नहीं होगा और उसका दुःख मिटेगा नहीं। किन्तु उस मृतकको मृतक ही जानना और वसको जीलाया नहीं जा सकता-ऐसा समझना यही दुःख दूर होनेका उपाय है। वैसे जो जीव मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थोंको अन्यथा मानकर अन्यथा परिणमन कराना चाहे वह स्वयं दुःखी ही होगा; उसकी मिथ्यामान्यता अनुसार पदार्थ परिणमे नहीं और उसका दुःख मिटे नहीं। किन्तु पदार्थको यथार्थ जानना (-स्वको स्वरूप और परको पररूप जानना) तथा वे पर-पदार्थ मेरे परिणमाये अन्यरूप परिणमनेवाले नहीं हैं-ऐसा मानना, यही दुःख दूर होनेका उपाय है। भ्रमणाके द्वारा उत्पन्न हुआ जो दुःख, वह भ्रमणाके मेटनेसे ही दूर होता है। इसप्रकार सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान ही दुःख मेटनेका सच्चा उपाय है।

जीव-अजीवकी सम्यक् श्रद्धा व उनका भेदज्ञान होनेपर शरीरमें अहंबुद्धि मिट जाती है और अपने अनादि-अनन्त चैतन्यद्रव्यमें ही अहंबुद्धि होती है, अतः उसको मृत्युका भय नहीं रहता और ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतराग-भाव प्रगट करनेसे सिद्धपद प्रगट होकर जन्म-मरणादि सर्व दुःखोंका अभाव हो जाता है।

अज्ञानीको देह ही दिखता है, मैं देह ही हू-ऐसी बुद्धि होनेसे उसे ऐसा लगता है कि भोजनके विना मैं जी नहीं सकता। परन्तु अरे भाई! तुम तो आत्मा हो, शरीर तो तुम नहीं हो। यह तो जैनबालपोथी (-जिसकी एक लाख प्रत छप चुकी हैं) उसके पहले ही पाठमें सिखाया है कि 'मैं जीव हू' और 'शरीर अजीव है।' जीव और शरीर भिन्न है। चेतना जिसका जीवन है-ऐसा आत्मा अनाजके बिना ही जी रहा है। आत्मा यदि अनाज खाये तो मर जाय! क्योंकि जड़ अनाजका यदि आत्मामें प्रवेश हो जाय तो चेतनरूपसे उसका अस्तित्व ही न रहे, अनाजरूपसे वह जड़ हो जाय अतः मर जाय। जड़ अनाजके विना ही उससे भिन्न अपने चेतन अस्तित्वमें आत्मा जीवित है।

देखो तो सही, दृष्टि-दृष्टिमें कितना बड़ा अन्तर है! अज्ञानी तो कहते हैं कि खाना खानेके विना आत्मा नहीं जी सकता, तब ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा खाना खाय तो मर जाय! भाई, तुम तो चेतन हो, तुम्हारी चेतनासे ही तुम जी रहे हो, तुम्हें तुम्हारा चैतन्यजीवन जीनेके लिये जड़ अन्न-पानकी अपेक्षा नहीं है। तुझमें जब यह शरीर भी नहीं है तब आहार कैसा? अमूर्त आत्मामें मूर्त पदार्थका प्रवेश नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह त्रिकाल है, असंयोगी है; तो भी अज्ञानी देहबुद्धि होनेके कारण शरीरके संयोग-

वियोगसे आत्माकी उत्पत्ति और विनाश होनेका मानते हैं। शरीर छूट जानेके समय मानों अपना ही नाश हो जाता हो —ऐसा उन्हें लगता है (इसीका नाम है मृत्युका भय, जो सम्यग्दृष्टिको कदापि नहीं होता) हे भाई! देहको गूफाके अन्दर ऊण्डे-ऊण्डे (अर्थात् देहसे भिन्न) आत्मा है उसको अपने अनुभवमें ले लो, तब तुमको अपनी नित्यता दिखाई देगी, आत्माका अमरपना तुमको दिखेगा और मृत्युका भय भी मिट जायगा,-क्योंकि मरण आत्माको है ही नहीं। मरणका जाननेवाला स्वय कभी नहीं मरता। देह आया और देह गया, उन दोनों अवस्थाको जीवने जानी, परन्तु जाननेवाला स्वयं न तो नया आया है और न वह अपनेसे बाहर कभी गया है, जाननेवाला तो सदैव अपने जाननेवाले स्वरूपमें ही है; आवे या जावे उसे वह जाने परन्तु वह स्वयं देहरूप नहीं होता।

अज्ञानी कहता है कि हमें देहसे भिन्न आत्मा नहीं दीखता।

नहीं नेत्रोंसे दीखता, नहीं दीखता रूप;
और कोई अनुभव नहीं, कैसा जीवस्वरूप ? (४५)
यातें देह ही आतमा, अथवा इन्द्रिय-प्राण;
कैसे जुदा मानना, भासे न भिन्न निशान। (४६)

—ऐसी अज्ञानीकी आशंका होने पर श्रीगुरु उसको सम-

ज्ञाते हैं कि-हे भाई ! तुझे देहबुद्धिके कारण ही ऐसा लगता है, वास्तवमें तो आत्मा देहसे अत्यत भिन्न ही है—

भासे देहाध्याससे आत्मा देहस्वरूप;
पर वे दोनों भिन्न है अपने अपने रूप। (४७)
घट पट आदि जान तू यातें उसको मान,
पर जाननहारा जो स्वयं उसको क्यों नहीं मान ? (४८)
जड़ चेतनका सर्वथा भिन्न भिन्न स्वभाव;
एक नहीं होते कभी, तीनोंकाल द्वय-भाव। (५७)

(श्रीमद् राजचन्द्रजी)

-ऐसे सर्व प्रकारसे देह और आत्माको भिन्नता है, उन दोनोंकी एकता कभी नहीं होती। लक्षणभेद, युक्ति, आगम आदि अनेक प्रकारसे आत्मा और देहकी भिन्नता ज्ञानीओंने स्पष्ट समझाई है,-अब किसको भेदज्ञान नहीं होगा ? -जड़-देहको आत्मा कौन मानेगा ?

भाई ! देह तुम नहीं हो, देह तो तुमसे विपरीत तत्त्व है। तुम जीव, और देह अजीव, तुम चेतन और वह जड़; तुम शाश्वत, और देह क्षणभगुर, तुम अरूपी-इन्द्रियातीत, और देह तो रूपी-इन्द्रियगम्य;—ऐसी स्पष्ट भिन्नता है। ज्ञानी अपनेको देहसे अत्यंत भिन्न अनुभवते हैं। आत्माको आत्माका वियोग कभी नहीं होता, देहका वियोग होता है क्योंकि वह तो अभी भी जुदा ही है। शरीरके वियोगसे आत्माका तो

वियोग नहीं होता; सिद्ध भगवंतों सदैव शरीरके बिना ही चैतन्यप्राणसे जी रहे हैं, वैसे सब जीव शरीरके बिना ही अपने चैतन्यभावसे जी रहे हैं। जो चेतनासे जीवे उसीका नाम जीव।

कोई बड़ा बादशाह तीव्र पाप करके मर जाय, उसका शरीर तो अभी यहां मुलायम बिछानेमें पड़ा हो और आत्मा नरकमें पहुँच जाय; वहां अपने किये हुए पापोंकी घोर वेदनाका वेदन करता हो। यह शरीर उसका कहां था? यदि शरीर उसका हो तब तो नरकमें पड़ा हुआ वह जीव सुखी होना चाहिए क्योंकि शरीर तो मखमलके मुलायम गद्देमें पड़ा है। अरे, यहां शरीर भले मखमलमें पड़ा हो परन्तु वह आत्मा तो नरकमें घोर दुःखोंका वेदन कर रहा है।

कोई सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा चक्रवर्ती भी हो, सोलह हजार देव उनकी सेवा करते हों, तो भी वे जानते हैं कि चक्रवर्तीपनेकी यह रिद्धि हमारी नहीं है, इस रिद्धिमें कहीं हम नहीं हैं, हम तो हमारी अनन्त गुणसम्पन्न चैतन्यरिद्धिमें हैं, वही रिद्धि हमारी है।

यह बाहरी आंख-कान आदि जो अवयव हैं सो आत्मा नहीं है, आत्माके तो अपने ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि अनंत अवयव हैं,-जो कि आत्मासे कभी अलग नहीं होते। ऐसे निजस्वरूपको जाने बिना अज्ञानी अपनेको देहरूप ही समझ

रहा है; उसके स्वप्नमें भी शरीर ही मैं हूं-ऐसा रटन चलता है; चेतन भगवान अपनेको जड़ अचेतन मानकर सारी दिशा ही भूल गया है। अरे, यह कैसा भ्रम कि स्वयं अपने आपको ही खो दिया ! वह परको अपना मानकर बन्दरकी तरह दुःखी हो रहा है। एक बन्दर था, वह जिस वृक्ष पर बैठता था उस वृक्षको वह अपना मान बैठा; जब पवनकी झकोर आई और उस वृक्षके सूखे पत्ते गिरने लगे; तब वह बन्दर दुःखी होने लगा कि अरे ! मेरे ये पत्ते खिरे जाते हैं। -कैसा भ्रम ! वैसे मोही जीव अज्ञानसे देहादिक संयोगको अपना मानते हैं और संयोग दूर होनेपर दुःखी होते हैं कि-अरे, मेरे ये सब चले जाते हैं।-परन्तु हे भाई ये तुम्हारे थे ही कब ? तुम व्यर्थ ही उनको अपना मानकर दुःखी हो रहे हो। अतः इस मिथ्या मान्यताको छोड़ो और भिन्न आत्माको पहिचानो, तभी तुम्हारा दुःख मिटेगा।

अज्ञानसे जीव अपनेको देहरूप मानता है, वैसे रागादि-भाव प्रगट दुःखदायक होने पर भी अज्ञानसे जीव उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन कर रहा है, आस्रवों जीवके चेतनस्वभावसे भिन्न होने पर भी उनको वह अपना स्वरूप मानकर उसका सेवन कर रहा है शुभरागसे मेरेको धर्मका कुछ लाभ मिलेगा, अथवा वह मोक्षका कारण होगा,-ऐसा मानता है उसने आस्रवतत्त्वको आस्रवरूप न जानकर संवर-निर्जरारूप माना, आस्रव दुःखरूप होनेपर भी उन्हें हितरूप

माना, वह अधर्मरूप होने पर भी उसको धर्मका साधन माना; वह बंधभाव होनेपर भी उसको मोक्षका साधन माना; वह विपदा होने पर भी उससे आत्मसंपदा प्राप्त करनेवाला माना, इस प्रकार अज्ञानीके सभी तत्त्वमें भूल है। जो दुःख देनेवाले भावोंको सुख देनेवाला मानकरके उनका सेवन करे वह दुःखसे कैसे छूटेगा? अशुभराग एवं शुभराग दोनोंमें दुःख हैं।

प्रश्नः— शुभसे स्वर्ग तो मिलता है?

उत्तरः— अरे भाई! स्वर्ग मिला उससे आत्माको क्या मिला? उस स्वर्गकी सामग्रीमें जिसको सुखकी कल्पना होती है, और उस विषय-सामग्रीसे रहित अतीन्द्रिय आत्मसुख जिसके लक्षमें नहीं आता, वह मिथ्यादृष्टि है। श्री कुन्दकुन्द-स्वामी प्रवचनसारमें कहते हैं कि— पुण्यजनित तृष्णाओंके द्वारा अत्यन्त दुःखी वे जीव मृगतृष्णाके जलकी भांति विषयोंमेंसे सुख चाहते हैं,-जो कभी नहीं मिल सकता। अतः पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवोंकी भाँति, विषयोंको चाहते हुए क्लेश पाते हैं। पुण्य भी पापकी भाँति दुःखका साधन है। शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) दोनों अनात्मभाव हैं, दोनों शुद्धोपयोगसे विपरीत हैं। इसप्रकार पुण्य-पाप दोनोंमें समानता जो नहीं मानते हैं, और पुण्यफलमें सुख मानकर उसका मोह करते हैं वे जीव मिथ्यादृष्टिपनेसे संसारमें ही रुलते हुए दुःखका ही अनुभव करते हैं। (देखो गाथा ७५-७६-७७)

शांत-आनन्दस्वरूप आत्मा है, उससे विरुद्ध पुण्य-पापके भाव आकुलतारूप हैं। जो शुभरागको चेतनरूप या हितरूप मानकर उनका सेवन करता है वह वीतरागी-आत्माका अनादर करता है। अमृतस्वरूप आत्माके वेदनमें परम शांति है, रागके वेदनमें थोड़ी भी शांति नहीं है, उसमें तो आकुलता ही है, प्रगटरूपसे वह दुःख देनेवाला है, परन्तु अज्ञानीको उसमें मोज दीखता है, क्योंकि आत्माकी सच्ची शांति उसने कभी नहीं देखी।

लोग रमतगमतमें जो आनन्द मानते हैं वह तो आकुलता है, जीवको भ्रमसे उसमें सुख लगता है। अशुभमें तो दुःख है और शुभमें भी दुःख है, शुभ-अशुभ दोनोंसे पार चैतन्यभाव ही सुख है और वही मोक्षमार्ग है। रागादि भाव तो ज्ञानसे रहित है, ज्ञानसे वह विपरीत है, ज्ञानीको उसमें चैन नहीं, उसमें सुखबुद्धि नहीं, अज्ञानी तो रागमें ही चैन मानकर उसमें रुक रहा है, अतः उससे भिन्न अपने स्वरूपको वह कैसे देखे? देहमें और रागमें ही अपनेपनकी बुद्धिसे जो प्रतिबद्ध हो गया वह उनसे भिन्न अपने अन्तरमें चैतन्यस्वरूप आत्माको कैसे ढूंढ़ेगा? कैसे उसका अनुभव करेगा? 'कैसे रूप लखे अपनो?'— निजरूप तो देह और राग दोनोंसे पार है, ऐसे निजरूपको देहबुद्धिवाला या रागबुद्धिवाला जीव कहां देख सकता है?

जैसे पाप मोक्षका कारण नहीं वैसे पुण्य भी मोक्षका

कारण नहीं, बन्धका ही कारण है, तो भी अज्ञानी उसको मोक्षका कारण जानकर बड़े उत्साहसे उसका सेवन करते हैं। भाई! चैतन्यका उत्साह छोड़करके तेरा उत्साह रागमें चला गया! अरे, धन-पुत्र आदिकी ममताके पापमें जीव सुख मानता है, उसमें राग करके मजा समझता है, परन्तु हे जीव! वह तो आकुलताकी ज्वाला है, उसमें तेरी शांति कहां है? शांति और आनन्द ये तो तेरे आत्मामेंसे ही आता है, आत्मामें ही सुख भरा है; बाहरकी अनुकूलताका होना—वह तो सुख नहीं है; बाह्यकी ओर झुकनेवाली रागवृत्तिमें भी सुख नहीं है। देखो, यहां (छहढालाकी इस गाथामें) ऐसा नहीं कहा कि—अशुभराग ही अकेला दुःखदायक है, परन्तु ('रागादिक दुःखदैन') शुभ या अशुभ सभी रागादिक भावको दुःखदेनेवाला कहा है। पुण्य राग भी दुःखदायक है, तो भी अज्ञानी उस पुण्यके रसके पीछे चैतन्यके सच्चे रसको (अतीन्द्रिय-सुखको) भूल जाते हैं। सर्वज्ञ भगवानने सात तत्त्वोंके कथनमें पुण्य-पाप दोनोंको आस्रवतत्त्वमें गिनाया है, उनको संवरमें नहीं गिनाये। अतः हे जीव! तुम अपने शुद्ध आत्माको आस्रवोंसे भिन्न जानो, तभी तत्त्वकी तुम्हारी भूल मिटेगी, और तुम्हें सुख होगा।

'मैं ज्ञान हूं' ऐसे ज्ञानका सेवन-अनुभवन सुखरूप है; ज्ञानसे विरुद्ध ऐसे जो रागादिक भाव-उनका सेवन दुःखरूप है। पापके फल भोगनेमें तो जीवोंको दुःख लगता है, किन्तु

पुण्यके फल भोगनेमें भी आकुलता और दुःख ही है। पुण्यके फलमें भी अनाकुल सुख नहीं है, अनाकुल सुख तो आत्माके अनुभवमें ही है। 'आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये'—ऐसा तीसरी ढालमें कहेंगे, और उस सुखके उपायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका कथन करेंगे। वहां 'शिवमग लाग्यो चहिये' ऐसा कहेंगे, परन्तु ऐसा नहीं कहेंगे कि-पुण्यमें सुख है अतः पुण्यके पीछे लाग्यो रहिये। देखो तो सही, यह छहढाला शास्त्र छोटा होने पर भी कितनी स्पष्ट बात समझाई है! बहुत अच्छे ढंगसे वीतराग-विज्ञान समझाया है!

भाई, तू रागमें सुख मानकर उसमें रुका इससे तेरे सारे चैतन्यस्वभावको तू भूला बैठा; अपने मुक्तस्वरूपको खोकर तू बन्धके कारणमें फँस गया।

प्रश्नः—क्या वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी राग वह भी बन्धका कारण है?

उत्तरः— हाँ, भैया! तुम यह सोचो तो सही कि-जब तुम्हें केवलज्ञान व मोक्ष पाना होगा तब तुम उस रागको साथमें रखकरके मोक्ष पावोगे? -कि उसको छोड़के मोक्ष पावोगे? रागको छोड़े बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, अतः यदि अभीसे रागको छोड़ने योग्य तुम नहीं मानोगे और उसको हितरूप समझोगे, तो उसको तुम कैसे छोड़ोगे? राग तो

बन्धका ही कारण होता है, न कि मोक्षका,-उस रागका निमित्त चाहे जो हो, भले साक्षात् वीतरागदेव उसका निमित्त हो, तो भी इससे बन्धका कारण मिटकर वह मोक्षका कारण नहीं हो जाता, वह तो बन्धका ही कारण होता है, ऐसा शुभराग हो यह अलग बात है, परन्तु उसको मोक्षका कारण मान लेनेमें तो रागके साथ मिथ्यात्वका सेवन आ जाता है, यह बड़ा दोष है। हे जीव! राग सुख है कि दुःख? राग तो दुःख है,-तब वह मोक्ष-सुखका कारण कैसे हो सकता है! -कभी नहीं हो सकता। सुख तो वीतराग-विज्ञान है और वही मोक्षसुखका कारण है। रागको जिसने मोक्षका कारण माना उसने आस्रवको आस्रव-रूप न पहचाना, आस्रवरहित वीतरागी चैतन्य स्वभावको भी उसने न पहचाना, रागरहित मोक्षके कारणको (-संवर-निर्जराको भी उसने न पहचाना,—इसप्रकार सभी तत्त्वोंमें उसकी गलती हुई।

रागमें उपयोगको जोड़ना सो बन्धन और दुःख है। स्व-विषयमें (-शुद्ध आत्मामें) उपयोगको जोड़ना सो मुक्ति और सुख है। रागमें रक्त जीव कर्मोंसे बन्धता है, और वैराग्यको प्राप्त जीव कर्मोंसे छूटता है—ऐसा सिद्धान्त है; अतः हे जीव! शुभ-अशुभ दोनों रागसे अपने उपयोगको भिन्न जानकर उनसे तुम विरक्त हो, किसी भी रागके साथ उपयोगको एक मत करो।

मूढ़तासे जीवको सोने-रूपेके ढेरमें सुख दिखता है, परन्तु हे भाई! वह तो जड़का ढेर है, और उस तरफका तेरा जो ममत्वभाव है वह भी पापका ढेर है; उसमेंसे सुख कैसे आयेगा? उसी तरह शुभरागमें भी सुख नहीं है। उपयोगको अन्तर स्वभावमें लगाकर राग-द्वेषरहित हो तभी तेरेको सुख होगा। रागादिभाव तेरे स्वभावकी चीज नहीं हैं, वे तो तुझे दुःख देनेवाले हैं—ऐसा समझकर उनका सेवन छोड़, और रागसे भिन्न अपने चैतन्यस्वरूपका सेवन कर; इससे तेरा दुःख मिटेगा और तुझे सुख होगा,-यही वीतरागी संतोंका हितोपदेश है।

बंध और संवरकी पहचानमें भूल

मिथ्यात्वके कारण तत्वकी विपरीत श्रद्धा करके जीव दुःखी होता हुआ चार गतिमें भ्रमण कर रहा है; तत्त्वकी श्रद्धामें उसकी क्या भूल होती है और सत्य तत्त्वस्वरूप कैसा है-यह दिखाकर जीवकी भूल छुड़ाते हैं। जीव-अजीव और आस्रवके संबंधमें जीवकी क्या भूल है यह दिखाया, अब बंध और संवरतत्त्वके संबंधमें क्या भूल है-यह कहते हैं—

[गाथा ६]

शुभ अशुभ बंधके फल मँझार, रति-अरति करै निजपद विसार।
आतमहितहेतु विराग-ज्ञान, ते लखैं आपकूं कष्टदान ॥ ६ ॥

अज्ञानी जीव अपना चेतनरूप जो निजपद है उसे भूलकर, शुभबंध अच्छा व अशुभबंध बुरा-ऐसा मानता है, और उस शुभ-अशुभबंधके फलमें राग-द्वेष करता है; शुभ-अशुभ दोनों बन्धनसे रहित अपना शुद्धस्वरूप है उसको वह नहीं पहचानता और बंधभावको अपना स्वरूप मानता है,-यह बंधतत्त्वकी भूल है।

तदुपरांत, आत्माके हितके कारण ऐसे जो वीतरागता व सम्यग्ज्ञान हैं, उन्हें वह कष्टदायक समझता है। सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शन भी होता ही है, अतः सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान

और रागरहित चारित्र-ऐसा संवरभाव आत्माको परम सुख देनेवाला है, परन्तु अज्ञानी उसमें कष्ट समझता है; इसप्रकार संवरतत्त्वको भी वह नहीं पहचानता। अहा, रत्नत्रयरूप वीतरागविज्ञानकी साधनामें कितना आनंद है?-आत्माका कैसा सुख है? उसको धर्मी ही जानते हैं!

चेतनमय निजपदको भूला हुआ अज्ञानी प्राणी क्या करता है-उसकी बात चल रही है। आत्मा स्वयं चैतन्य-निधान आनन्दका समुद्र है, उसके सामने देखते ही समभावी आनन्दकी लहरें उठतीं हैं; परन्तु उसको भूलकर अज्ञानी राग-द्वेष पुण्य-पापका सेवन कर रहा है। शुभ एवं अशुभ दोनों भाव बन्धके ही कारण हैं, तो भी अज्ञानी शुभको बन्ध-रूप न जानकर, उसको मोक्षका कारण मानकर उनका सेवन करता है। सम्यग्दर्शन-जो कि स्वयं परम आनन्दरूप है और मोक्षका कारण है उसकी महत्ता अज्ञानीको नहीं दीखती और शुभरागकी महत्ता दीखती है, इसकारण वह रागके फलमें ही रचा-पचा रहता है; वीतरागी ज्ञानके अनुभवमें जो आनन्द है उसकी उसे खबर भी नहीं है। शास्त्रकार समझाते हैं कि हे भाई! शुभ-अशुभ सभी आस्रव तुझे दुःखका ही कारण हैं अतः उसका सेवन छोड़ो, और वीतरागविज्ञानरूप संवर ही सुखका कारण है अतः उसका सेवन करो।

शुभके फलमें मुझे सुख, और अशुभके फलमें मुझे दुःख, अनुकूलता आनेपर मैं सुखी हो गया और प्रतिकूलता आने-

पर मैं दुःखी हो गया—इसप्रकार शुभ-अशुभमें अज्ञानी अंतर-जुदाई देखते हैं, किंतु वास्तवमें वे दोनों ही दुःखरूप और बंधनरूप हैं, अपना सच्चा स्वरूप उन दोनोंसे अलग है-उसे वह नहीं पहचानते। चेतनभाव और बंधभाव दोनोंकी जाति ही भिन्न है। ज्ञान-वैराग्यरूप जो अबन्धभाव हैं वही सुख है रागरूप जितने भी बन्धभाव हैं वे सबके सब दुःख ही हैं।

संवरधर्म कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, या विराग ज्ञान अथवा वीतरागविज्ञान कहो, सो अबंधभाव है, वह आत्माको महा आनंदरूप है, हितरूप है, किन्तु इसके स्थानमें दैहिक कष्टको अज्ञानी लोग चारित्र मानते हैं। अरे भाई, चारित्रमें कष्ट नहीं है, वह तो महा आनन्दरूप जगपूज्य पद है। आत्माका चारित्रधर्म देहकी क्रियामें नहीं रहता, चारित्र रागमें भी नहीं रहता, चारित्र तो चेतनमें एकाग्रतारूप है, उसमें दुःख या कष्ट कैसा ?

अरे, अज्ञानीके सभी तत्त्वोंमें गलती है। वह बंधनमें सुख मानता है, संवरमें दुःख मानता है। अजीवको जीव मानता है, जीवको देहरूप मानता है,-ऐसी अत्यंत विपरीत मान्यता करता है। यह विपरीत मान्यता महा दुःखरूप है, उससे छूटनेके लिये यह उपदेश है।

जिनेन्द्र भगवानने आठों ही कर्मके फलको विषवृक्षका फल कहा है, उनमेंसे किसी शुभकर्मको भी बाकी नहीं रक्खा है। चैतन्यस्वरूप आत्मा अमृतकी वेली है, उसके अनुभवमें

आनन्दका फल आता है, और उसके विपरीत शुभ-अशुभ सभी भावोंका फल विषरूप है। जिसे पुण्यकी रुचि है उसे जड़की रुचि है, उसे आत्माकी रुचि नहीं है। प्रभो! तू मुक्तस्वरूप आत्मा, बन्धनसे रहित तेरा स्वभाव, और उसको भूलकर तू बंधनका प्रेम करके उसमें फँस गया,-यह तेरेको शोभा नहीं देता। वह तो दुःख है, कलंक है। बन्धनमें कोई बन्धन अच्छा और कोई बुरा-ऐसे दो भेद नहीं हैं, एक भी बन्धन भला नहीं है, सर्व बन्धनसे रहित मुक्ति ही भली है-अच्छी है, उसमें ही सुख है।

प्रश्नः—शुभके फलमें तो धर्मके निमित्तकी सामग्री मिलती है, तो उसको भला क्यों न माना जाय?

उत्तर—धर्मकी दुर्लभता दिखानेके हेतुसे धर्मके निमित्तको भी दुर्लभ कहा गया है, परन्तु वास्तवमें तो वे शुभ-निमित्त भी आत्मासे भिन्न हैं, आत्मासे बाह्य हैं; मात्र निमित्तका संयोग मिलनेसे धर्मकी प्राप्ति नहीं हो जाती, उन संयोगके ही सामने देखा करे तबतक आत्माको धर्मका लाभ नहीं होगा, जब संयोगसे भिन्न निजस्वरूपकी ओर देखे तभी धर्म होगा। शुभ भी मेरे ज्ञानसे भिन्न है ऐसा जाने बिना अन्तर्मुख होगा कैसे? अरे, जो अपना स्वभाव नहीं है जो अपने मोक्षको रोकनेवाला है, ऐसे शुभरागमें उत्साह क्यों? धर्मीको चैतन्यके अनुभवका उत्साह है, रागका या

पुण्यका उत्साह उसको नहीं है। कोई कहे कि 'आपका बड़ा पुण्यबन्ध हुआ'-तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! हम तो चैतन्य, उसमें बन्धन कैसा? हम तो सभी बन्धनसे छूटकर मुक्त होना चाहते हैं। बन्धनसे हमारी शोभा नहीं है किन्तु शरम है। बन्धनभावमें हम नहीं हैं, उसमें हमारा उल्लास नहीं है; हम तो अपने वीतरागी ज्ञानरूप अबन्ध भावमें हैं, उसीमें हमारा उत्साह व प्रेम है।

भाई! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो एकबार ऐसी पहचान करो; बाहरी सब बात भूल जाओ और अपने निज-स्वरूपको पहचानो। शुभ-पुण्य अच्छा और अशुभ-पाप बुरा, अतएव उसके फलरूप अनुकूल सामग्रीमें सुख और प्रतिकूल सामग्रीमें दुःख-ऐसी अज्ञानीकी मान्यता होनेसे वह सर्वत्र राग-द्वेष करके दुःखी होता है; वीतरागी ज्ञानकी शांति उसे कहीं भी नहीं मिलती, क्योंकि बन्धनरहित ज्ञानमय निज-पदका सेवन वह नहीं करता, और न उसको पहचानता भी है। ज्ञानस्वरूपकी पहचानके लिये यह उपदेश है।

अनुकूल संयोगमें जो सुख मानेगा वह उसके कारणरूप शुभरागमें भी सुख मानेगा, अतएव रागसे रहित चैतन्यसुखका अनुभव उसे नहीं होगा। संयोगसे व रागसे भिन्न निजपदको भूला-यह जीवकी बड़ी भूल है। अरे! संयोगमें या रागमें तुम्हें सुख लगता है, किन्तु उसमें सुख है ही नहीं। सुख रागमें होता है? कि वीतरागतामें? वीतरागतामें ही तुम्हारा सुख है,

उसको तुमने कभी नहीं जाना। जिसने रागको या पुण्यबन्धको अच्छा माना उसको मोक्षकी श्रद्धा नहीं है। जिसको रागको रुचि है उसको मोक्षकी रुचि नहीं। मोक्ष तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, रागमय नहीं है। ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा जिसको नहीं है उसको मोक्षादि सातों तत्त्वोंकी श्रद्धामें भूल है।

अपना हित किसमें है इसका अज्ञानीको भान नहीं है, और आत्माके लिये दुःखरूप बन्धभाव कैसा है इसका भी उसको भान नहीं है। वह तो अहितरूप बन्धभावको (शुभ-रागको) हितरूप समझकर उसका सेवन कर रहा है और अपनेको परम हितरूप ऐसे वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रको कष्टरूप समझकर उनसे दूर भागता है। अरे, जीव दुःखको नहीं चाहते किन्तु दुःखके कारणरूप मिथ्याभावोंका दिन-रात सेवन करते हैं, जीव सुखको चाहते हैं किंतु उसके कारणरूप वीतरागविज्ञानका एक क्षण भी सेवन नहीं करते। यदि जीवादि नवतत्त्वोंका स्वरूप भले प्रकार पहचाने तो, कौन अपनेको हितरूप है और कौन अपनेको अहितरूप है-उसका ज्ञान होवे, और तब अहितकर भावोंका सेवन छोड़कर हितरूप ऐसे वीतराग-विज्ञानका सेवन करे। हे भाई! चार-गतिमें जो अनन्त दुःख तुमने भोगे उनसे यदि छूटना चाहते हो और मोक्षसुखका अनुभव करना चाहते हो तो मिथ्या-श्रद्धा छोड़कर वीतराग-विज्ञानका सेवन करो। वाह! दुःखसे छूटना कौन नहीं चाहेगा? दुःखसे छूटकर आनन्दकी प्राप्तिका

यह अवसर मिला है, अतः हे जीव ! तू प्रमादी मत होना।

मोहनिंदमें सूते जीवको जगाकर उसका निजपद दिखलाते हुए वीतरागी सन्त कहते हैं कि रे जीव ! राग तेरा निजपद नहीं है, तेरा निजपद तो चैतन्यमय है। ऐसे अपने निजपदको विसार कर पुण्यमें प्रीति मत कर। शुभरागकी प्रीतिसे तो संसार मिलता है; जिसकी प्रीतिसे संसार मिले उसको कौन मुमुक्षु अच्छा कहेगा? जो जीव पुण्यको चाहता है उसको तो कुन्दकुन्दस्वामीने परमार्थसे बाह्य कहा है—

परमार्थ बाहिर जीव जो जानें न हेतु मोक्षका।
अज्ञानसे वे पुण्य इच्छें हेतु जो संसारका।

(समयसार १५४)

प्रश्नः-तो क्या धर्मीको पुण्य नहीं होता?

उत्तरः-पुण्य हो भले, परन्तु धर्मी तो सर्व प्रसंगमें अपनेको ज्ञाताद्रष्टा स्वरूप ही जानते हैं, वह क्षणभर भी अपने निजपदको नहीं विसारते। पुण्य पुण्यमें है, निजपद निजपदमें है, ऐसी दोनोंकी भिन्नता है। किसी भी प्रसंगमें धर्मी जानते हैं कि मैं ज्ञानदर्शनमय हूं, वही मेरा निजपद है। जब निजपदको सम्हालता हुआ चैतन्य जागृत हुआ तब कोई भी बाह्यसंयोग उसको रोकनेवाला नहीं; किसीकी ताकत नहीं जो उसको रोके। रागसे भिन्न चैतन्यका जो सम्यक् भान हुआ वह शुभ या अशुभ किसी भी समय चलित नहीं होता,

निजपदसे अतिरिक्त अन्य कोई परपद (परभाव) अपना नहीं दिखता, धर्मीका ऐसा भेदज्ञान मोक्षका कारण है।

शुभ-अशुभसे रहित, पुण्य-पापसे रहित, अपने शुद्ध चैतन्यपदका भान-अनुभव तो सम्यग्दृष्टि-गृहस्थको भी होता है और ऐसे गृहस्थको भी समन्तभद्र स्वामीने मोक्षमार्गी कहा है। (गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो. .इत्यादि) गृहस्थको आत्मामें विशेष लीनता नहीं होती, मुनिवरोंको चैतन्यस्वभावके ज्ञानके उपरांत विशेष लीनता होती है, वे तो अतीन्द्रिय आनन्दके अनुभवमें बहुत लयलीन रहते हैं, उन्हें पंच महाव्रत, नग्नता आदि मूल गुणोंके पालनमें कष्ट नहीं है, वे तो वीतराग भावसे महान सुखी हैं, चक्रवर्ती राजासे या इन्द्रसे भी वे मुनिवर अधिक सुखी हैं, ज्ञान-वैराग्यकी उग्रताके कारण उन्हें बहुत संवर है और बहुत सुख है; किंतु बाह्य अनुकूलताको ही सुख माननेवाला अज्ञानी ऐसा मानता है कि मुनिको बहुत कष्ट है, चारित्रदशामें बहुत कष्ट है। अरे, महा आनन्दरूप मुनिदशा वह भी अज्ञानीको दुःखरूप कष्टदायक लगती है,-क्योंकि निजघरका आनन्द उसने कभी देखा नहीं, उसने तो शरीरको और रागको ही देखा है; देहसे व रागसे पार अपना निजपद आनन्दमय है, ऐसे निजपदका निर्धार जीवने कभी नहीं किया।

यहाँ 'आतमहित हेतु विरागज्ञान' ऐसा कहा है अर्थात् विराग-ज्ञानको हितका हेतु कहा है, रागको आत्माके हितका

हेतु नहीं कहा है। विराग-ज्ञान माने रागके अभावरूप ज्ञान, वही मोक्षमार्ग है, इसमें निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समा जाते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों ही विराग हैं-राग रहित है। आत्माकी स्वरूपमें स्थिरता होने पर रागका अभाव हो जाना उसको भगवानने वैराग्य कहा है; उसमें तो सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव है, उसमें दुःख या कष्टका नाम भी नहीं है। जिसमें दुःख या कष्ट लगे वह तो आर्त्तध्यान है, वह धर्म नहीं है, नहीं है। धर्ममें या तपमें चारित्रमें कष्ट नहीं होता, आनन्द होता है। जिसको दुःख ही दिखता है और आनन्द नहीं दिखता उसको अपनेमें धर्म हुआ ही नहीं, वीतरागविज्ञान उसे प्रगटा ही नहीं। धर्मको जो दुःखरूप या कष्टदायक मानते हैं उन्हें धर्मकी अरुचि है, वे तो रागको सुखरूप-धर्म समझकर रुचिपूर्वक उसीका सेवन करते हैं।-ऐसे विपरीत भावके कारण ही संसारमें जीव दुःखी हो रहे हैं।

अरे, वीतरागतामें दुःख कैसा? दुःख तो रागमें होता है। वीतरागता तो आत्माका स्वभाव है, उसमें तो परम सुख है। अहा, ज्ञान-वैराग्यके बलसे जो अपने निजस्वरूपमें स्थिर हुए उनके अतीन्द्रिय आनन्दका क्या कहना? रागके द्वारा उस आनन्दकी कल्पना भी नहीं हो सकती। जैसा सिद्धका सुख वैसा ही यह सुख. उसमें खेद कैसा? और थाक कैसा? -भले ही शरीरको सिंह-बाघ खा जाते हों! जिसमें ऐसे

आनन्दका अनुभव है वही संवरतत्त्व है। ऐसे संवरको पहचानकर जीव अपनेमें प्रगट करे तब उसका दुःख मिटे और धर्म होवे। ऐसे तत्त्वज्ञानके बिना सच्चा त्याग-वैराग्य नहीं होता। जो रागादि बंधभावको अच्छा या हितरूप माने उसका विरागज्ञान नहीं होता और विरागज्ञान (वीतराग-विज्ञान) के बिना आत्माका हित नहीं होता। अतः हे भव्य! तुम तत्त्वका यथार्थ स्वरूप पहचानकर वीतराग-विज्ञान प्रगट करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

निर्जरा व मोक्षतत्त्वमें अज्ञानीकी भूल तथा मिथ्याज्ञानका स्वरूप

मिथ्यादृष्टिको जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वके विषयमें जो भूल है उसको छुड़ानेके लिये उपदेश चल रहा है; जीव-अजीव, आस्रव-बंध व संवर तत्त्वका स्वरूप समझाकर उसमें अज्ञानीकी भूल दिखलाई, अब निर्जरा व मोक्षके सम्बन्धमें अज्ञानी कैसी भूल करता है यह कहते हैं—

[गाथा–७]

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीति जुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान। ७।

आत्माका स्वभाव निराकुल आनन्दसे भरा है, और इच्छाका उसमें अभाव है; परन्तु अपने ऐसे निजस्वभावकी शक्तिको अज्ञानी खो बैठा है, उसको वह भूल गया है, वह तो इच्छारूप रागको ही अपना स्वरूप मान बैठा है, अतः वह इच्छाका निरोध नहीं करता। इसप्रकार इच्छाके अभावरूप तप-कि जिसमें आत्माके आनन्दका अनुभव है और जो निर्जराका कारण है, उसको अज्ञानी नहीं पहचानता वह तो ऐसा मानता है कि अनाज न खानेसे मुझे तप हो गया और

निर्जरा भी हो गई;—परन्तु निर्जरा या तपका ऐसा स्वरूप नहीं है। अन्तरंग ध्यानके द्वारा चैतन्यका प्रतपन होना अर्थात् विशेष शुद्धताका होना वही तप और संपूर्ण नीराकुलता रूप मोक्षतत्त्व है।-ऐसे निर्जरा व मोक्षतत्त्वको न पहचानकर अज्ञानी विपरीत मानता है।

इसप्रकार गाथा २ से ७ में कहे अनुसार सातों ही तत्त्वमें अज्ञानीको विपरीत प्रतीत है, ऐसी विपरीत श्रद्धा सहित जो कुछ जानपना है वह सब अज्ञान है और दुःखदायक है;-ऐसा जानकर वह छोड़ने योग्य है।

पहली ढालमें चार गतिके महादुःखोंका जो वर्णन किया उसका कारण मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है; इनमेंसे तत्त्वोंकी विपरीत श्रद्धा तथा विपरीत ज्ञानरूप मिथ्याश्रद्धा तथा मिथ्याज्ञानका स्वरूप दिखलाया, और मिथ्याचारित्रका स्वरूप अब आठवीं गाथामें कहेंगे,-किसलिये? कि उसको पहचानकर छोड़नेके लिये।

भाई! तेरी आत्माकी शक्ति अपार है, इच्छाके द्वारा वह रुकी हुई है। स्वरूपमें स्थिरता होनेपर इच्छायें रुक जाती हैं और निजशक्तिका विकास होता है, यही निर्जरा है और यही मोक्षका कारण है। संपूर्ण नीराकुलता होनेपर पूर्ण सुखरूप मोक्षदशा प्रगट होती है। 'मैं ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा हूं, परमें मेरा सुख नहीं है, शुभाशुभ इच्छायें मेरा स्वरूप नहीं है'-ऐसी पहचानके विना शुभाशुभ इच्छाओंका

निरोध कभी नहीं होता और आनन्दका अनुभव नहीं होता। इच्छारहित आत्माका सुखस्वभाव है उसके अनुभवसे ही संवर-निर्जरा-मोक्ष होता है। अज्ञानी शुभरागसे या देहकी क्रियासे संवर-निर्जरा-मोक्ष होनेका मानता है वह उसकी भूल है।

मोक्षके कारणरूप निर्जरा सम्यग्दृष्टिको ही होती है; अकामनिर्जरा तो अज्ञानीके भी होती है उसकी बात नहीं है। ज्ञान और इच्छा भिन्न है; इच्छा तो आत्मशांतिसे विरुद्ध है, उसमें आकुलता है। जिसने शुभरागको मोक्षका साधन माना उसने आकुलभावके द्वारा मोक्ष होनेका माना, अतः उसका मोक्ष भी आकुलतारूप ही ठहरा; नीराकुल सुखरूप मोक्षकी उसे पहचान नहीं है। मोक्ष तो संपूर्ण नीराकुलतारूप है, नीराकुलताका कारण भी तो नीराकुल भाव ही होता है, आकुलता कभी नीराकुलताका कारण नहीं होती। शुभ इच्छामें भी आकुलता है, उसको यदि मोक्षका कारण माना जाय तो कारण-कार्यमें विपरीतता हो जाती है। ऐसी विपरीत श्रद्धा व विपरीत ज्ञान जीवको दुःखका कारण होता है; अतः उसको त्याग करना चाहिए। अर्थात् रागको मोक्षका साधन नहीं समझना चाहिए।

जीव इच्छा करे और फिर उसमें सुख माने, तब वह इच्छाको छोड़कर शांतस्वभावका अनुभव कैसे करेगा? इच्छा तो स्वयं दुःख है; कहा भी है कि 'क्या इच्छत? खोवत

सबै, है इच्छा दुःखमूल।' अरे जीव! तू अपने चैतन्यवैभवको भूला तब परमेंसे सुख लेनेकी बुद्धि तेरेको हुई। किन्तु हे भाई! परमेंसे सुख लेनेकी बुद्धि करनेसे तेरे अखण्ड सुखके भडारको तू भूल रहा है; तेरे निधानको खोकर (भूलकर) तू दुःखी हो रहा है। परमें सुख है ही नहीं, चैतन्यमें ही सुख है,—ऐसा समझकर निजस्वरूपमें स्थिर एकाग्र रहना और परकी इच्छाका निरोध करना यही शांति है, यही तप है, यही निर्जरा है और यही मोक्षका मार्ग है।

जीव-अजीव आदि तत्त्वोंको अज्ञानी नहीं पहचानता; उसे ऐसी कल्पना होती है कि रुपयेके विना मैं मर जाऊँगा, शरीरके विना मैं मर जाऊँगा। परन्तु अरे जीव! तुम तो चैतन्यसे जीनेवाले हो; शरीरादिके संयोगसे जीनेवाले तुम नहीं हो, उससे तो तुम भिन्न हो, और उस तरफकी इच्छाके विना ही तुम जीनेवाले हो; अतः परके विना मैं जी नहीं सकूँ-ऐसी मिथ्याबुद्धिको छोड़ो। मिथ्याभावसे जीवका भाव-मरण होता है और वही दुःख है। अपने जीवको पराश्रित माननेकी भूल जीव अनादिसे कर रहा है और उसके फलमें दुःख भी अनादिसे भोग रहा है। अब उस भूलको छोड़कर सुखी होनेके लिये यह उपदेश है कि उपयोगस्वरूप अपने शाश्वत-स्वाधीन जीवनको पहचानो।

जीवने अपने स्वरूपकी सम्यक् श्रद्धा व सम्यग्ज्ञानके विना, शुभरागरूप व्यवहारक्रिया और व्यवहार जानपना

अनन्तवार किया, परन्तु वे सब मिथ्या हैं। जीव मिथ्यात्वपूर्वक जो कोई भाव करता है वे सब दुःखदायक ही हैं। एक दूसरी छहढाला जोकि श्री बुधजन पण्डित रचित है उसमें भी कहा है कि—

सम्यक् सहज स्वभाव आपका अनुभव करना,
या विन जप–तप व्यर्थ कष्टके मांहीं पडना।
कोटि वातकी वात अरे! बुधजन उर धरना,
मनवचतन शुचि होय ग्रहो जिनवृषका शरना ॥

करोड़ों वातोंका यही सार है कि आत्माके सहज स्वभावका अनुभव करना; इसके विना सब व्यर्थ है। जिनवृष कहो या वीतरागविज्ञानरूप धर्म कहो,—वही जीवको शरणरूप है।

देखो, समयसारादि वड़े-वड़े शास्त्रमें तो यह वात है ही, किन्तु पहलेके विद्वानोंके द्वारा रचित छहढाला जैसी छोटी पुस्तकोंमें भी यही वात की है। उन पण्डितोंका कथन भी आचार्योंके अनुसार ही है, उसमें वीतराग-विज्ञानका ही प्रतिपादन है। चैतन्यका वीतरागविज्ञान सुखरूप है, और ऐसे वीतराग-विज्ञानरूप धर्मको साधकरके अनादिकालसे जीव मुक्त होते रहते हैं। वीतराग-विज्ञानवंत जीव जगतमें सदाकाल विद्यमान होते ही हैं। अतः मुक्तिके लिये तुम भी वीतरागविज्ञान करो।

सभी आत्मा आनन्दको चाहते हैं, वह आनन्द कहीं बाहरमें नहीं है, आत्मामें ही आनन्द है। अतः ज्ञानी कहते

हैं कि हे जीव! तेरे आत्मामें ही तू आनन्दित रह; (તું આત્મામાં ગમાડ) सदैव आत्माकी ही प्रीति कर। आत्मज्ञानके बिना सब दुःखदायक ही है। सात तत्त्वोंकी सच्ची पहचान करनेसे उसमें आत्माकी पहचान आ जाती है। वह इसप्रकार—

(१) 'जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं'—जीव सदा उपयोग-लक्षणरूप है, वह शरीरादि अजीवसे भिन्न तत्त्व है।

(२) पुद्गलादि अजीवतत्त्व है उनमें ज्ञान नहीं है; यह जीव और अजीव दोनोंके काम भिन्न, अपने अपनेमें हैं।

(३) मिथ्यात्वादि भाव हैं सो आस्रव है; पुण्य-पाप दोनों भी आस्रवमें समाते हैं। ये आस्रवभाव जीवको दुःखदायक हैं।

(४) सम्यग्दर्शनादि वीतरागभावके द्वारा कर्मका संवर होता है। ये सम्यग्दर्शनादि भाव जीवको सुखरूप है और मोक्षका कारण है।

(५) मिथ्यात्वादि भाव बंधका कारण है; शुभराग भी बंधका कारण है, वह मोक्षका कारण नहीं है।

(६) सम्यग्दर्शन पूर्वक शुद्धतासे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

(७) आत्माकी पूर्ण शुद्धता होनेपर आकुलताका सर्वथा अभाव हो जाना और कर्मोंके बंधनसे आत्माका मुक्त होना वह मोक्षतत्त्व है; वह पूर्ण सुखरूप है।

—इसप्रकार सात तत्त्वोंको पहचानकर उनमेंसे सम्यग्दर्शनादि सुखके कारणोंका ग्रहण करना, और दुःखके कारणरूप मिथ्यात्वादिका त्याग करना,-इसीलिये यह उपदेश है। ऐसा यथार्थ तत्त्वश्रद्धान् सो सम्यग्दर्शन है, और सम्यग्दर्शन ही मोक्षका मूल है।

अज्ञानी जीव बाहरकी अनुकूलतासे अपनेको सुखी मानता है परन्तु सम्यग्दर्शनके बिना वास्तवमें वह दुःखी ही है। चींटी जब शक्कर खा रही हो उस समय भी वह दुःखी है, मनुष्य मिष्टान्न खा रहा हो तब भी वह दुःखी है, स्वर्गका मिथ्यादृष्टि देव अमृतका स्वाद लेता हो उस वक्त भी दुःखका ही वेदन कर रहा है; परन्तु ये जीव भ्रमसे अपने-अपनेको सुखी मानते हैं। अरे भाई, यह तो अशुभ इच्छा है, पाप है, आकुलता है, उसमें दुःखका ही वेदन है, मुखमें जब मिष्टान्न पड़ा हो उस समय जीवके रागरसरूप दुःखका ही स्वाद आता है, मिष्टान्नका नहीं। यह तो हुई अशुभकी बात; और जब शुभपरिणाम हो, शुक्ललेश्या हो उससमय भी अज्ञानी जीव दुःखी ही है। जहाँ सुख भरा है उस वस्तुको वह जानता भी नहीं है, तब उसे सुख कैसा? सुख तो आत्माका स्वभाव है—उसके अनुभवसे मोक्षसुख होता है। मोक्षमें आकुलतारहित संपूर्ण सुख है, किसी भी विषयकी (अशुभ या शुभ) इच्छा वहाँ नहीं है।

'मोक्षमें कुछ खाना-पीना आदि तो नहीं है!'—परन्तु क्यों हो?-जबकि वहाँ आकुलता ही नहीं। जहाँ खाने-पीनेकी कोई इच्छा ही नहीं तब फिर वहाँ खान-पानका क्या काम है? 'आत्मा स्वयं सुखधाम है फिर विषयोंका क्या काम है?' जिसको आत्मामेंसे ही सुखका अनुभव हो रहा है उसे बाह्य-विषयोंका क्या काम है? जहाँ आत्माके सहज सुखमें लीनता है वहाँ बाह्य पदार्थकी इच्छा ही नहीं रहती। सुख तो आत्मामेंसे उत्पन्न होता है, किसी बाह्य वस्तुमेंसे नहीं आता। बाह्य पदार्थोंका उपभोग करना कौन चाहेगा?-कि जो इच्छासे दुःखी होगा वह। जो स्वयं अपने आप सुखी होगा वह अन्य पदार्थकी इच्छा क्यों करेगा?-जो नीरोग हो वह दवाईकी क्यों इच्छा करे? मुक्त जीवोंको जगतके सभी पदार्थोंका ज्ञान है परन्तु इच्छा किसीकी नहीं है; इच्छा न होनेसे दुःख भी नहीं है, वे अपने चैतन्यसुखके ही वेदनमें लीन हैं—यदि ऐसी मोक्षदशाको पहचाने तो आत्माके स्वभावकी पहचान हो जाय; रागमें या विषयोंमें सुख होनेकी बुद्धि छूट जाय, और उनसे भिन्न आत्माका अनुभव हो। इसीका नाम है वीतरागविज्ञान, और यही है मोक्षसुखका राह।

जिसको ऐसा वीतरागविज्ञान नहीं है, और विषयोंमें या रागमें जिसको सुख लगता है वह सचमुचमें मोक्षको नहीं चाहता, मोक्षके स्वरूपको वह पहचानता भी नहीं है, वह तो अज्ञानसे रागको-विषयको ही चाहता है। अहो! मोक्ष

तो परम आनन्द है,—परम निरपेक्ष है, जिसमें जगतके किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं है, अकेले आत्मामेंसे ही प्रगट होनेवाला पूर्ण आनन्द है। ज्ञानी उसकी भावना भाते हैं कि—

सादि-अनंत अनंत समाधि सुख है,
अनत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो .
—ऐसे परमपद प्राप्तिकी है भावना।

अज्ञानीको तो ऐसे मोक्षका ज्ञान ही नहीं है, वह तो अज्ञानसे मोक्षके नाम पर रागकी ही भावना भाता है। (अज्ञानसे वह पुण्य इच्छे-हेतु जो संसारका।) मोक्षमें राग रहित पूर्ण शान्ति है; यहां भी रागका जितना अभाव हुआ इतनी ही शांति है, कोई बाह्यपदार्थके उपभोगमेंसे तो शांति नहीं आती; बाह्यपदार्थ तो जड़ और पर हैं, उसकी इच्छा वह दुःख है; 'सुख'में किसीकी इच्छा नहीं रहती, सुख तो आत्माका स्वभाव है। ऐसा पूर्णसुख वही मोक्ष है।

मोक्षमें सिद्धभगवान क्या करते हैं? वे सदाकाल अपने आत्मिक आत्मिक भोगते हैं। 'क्या वे हमारा कुछ भी नहीं करते?' ना, नहीं करते; तो, अज्ञानी कहते हैं कि-जो हमारा कुछ भी न करे ऐसे सिद्धभगवानसे हमें क्या काम? ऐसे सिद्धभगवान हमें नहीं चाहिए।'-अर्थात् ऐसा मोक्ष ही उसको पसन्द नहीं है, उसको तो परकी कर्तृत्वबुद्धिके मिथ्यात्वमें रुलना है! अरे भाई! सिद्धपदकी तुम्हें पहचान ही नहीं है। जरा

सोचो तो सही-यहां तुम भी क्या करते हो? परका कार्य तो तुम भी नहीं कर सकते, तुम मात्र तुम्हारेमें ही राग और अज्ञान करके दुःखको भोगते हो, यह संसार है, जबकि सिद्धभगवान वीतराग-विज्ञानसे परमसुखको भोगते हैं, वे निजानंदके अनुभवमें मग्न हैं और आकुलता जरा भी नहीं करते; यह मोक्ष है। सिद्धभगवन्तोंको स्वरूपमें पूर्ण स्थिरता होनेसे पूर्ण सुख है; साधकको भी स्वरूपमें जितनी स्थिरता है इतना सुख है; अज्ञानीको तो अपने स्वरूपकी पहचान ही नहीं, अतः रागादि परभावमें ही लीनतासे वह दुःखी है, मोक्षसुख कैसा है उसका स्वाद भी वह नहीं जानता।

* * *

आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, केवलज्ञानकी शक्तिवाला है, राग उसका स्वरूप नहीं किन्तु चेतना उसका स्वरूप है; स्वसन्मुख होकर अपनी इस शक्तिको प्रगट करना चाहिये; किन्तु अज्ञानी निजशक्तिको भूलकर रागको ही प्रगट करता है और उससे अपनेको लाभ मानता है। आत्मशक्तिकी प्रतीतरूप सम्यग्दर्शनके विना संवर-निर्जरा या मोक्ष नहीं हो सकता। इच्छासे भिन्न चैतन्यस्वरूपको जाने विना इच्छाको रोकेगा कौन? निजस्वरूपमें स्थिर होनेसे ऐसा आनन्द व शुद्धता प्रगट होते हैं कि कोई इच्छा ही नहीं रहती, तभी इच्छाके निरोधरूप तप तथा निर्जरा होते हैं।

जिसको भान ही नहीं कि मैं कौन हूं—वह एकाग्र

किसमें होगा ? जिसका ऐसा अभिप्राय है कि दुनियामें जीवोंका कल्याण करनेके लिए हमें राग करना चाहिए, यदि दूसरोंका कल्याण होता हो तो भले हमें भव करना पड़े,— यह बुद्धि मिथ्यादृष्टिकी है, उसने रागको लाभरूप मान लिया है और रागरहित अपने चेतन स्वरूपको नहीं माना है। अरे अविवेकी ! तू ज्ञान हो कि राग हो ? क्या तेरे राग करनेसे दूसरोंका कल्याण हो जायगा ? दूसरोंका कल्याण स्वय उनके करनेसे होगा—कि तू कर देगा ? अभी तेरे कल्याणको राह भी तुझे मालूम नहीं है-और व्यर्थ दूसरोंकी चिंता क्यों कर रहा है ?

'जो दूसरेको तारे वह स्वयं तिरे'—ऐसी पराश्रयकी बात लोगोंको अच्छी लगती है, किन्तु वह सच्ची नहीं है। और, 'जो आप तिरे वह दूसरेको तारे'—ऐसा भी नहीं है। लोगोंको आत्माकी स्वाधीन शक्तिका लक्ष न होनेसे लोगोंको पराश्रयबुद्धि होनेसे वे ऐसा समझते हैं कि कोई ज्ञानी गुरु या भगवान हमें तार देंगे;-किन्तु यह सच नहीं है। भाई, तू ही तेरा तारक हो, दूसरा कोई तेरेको तारनेवाला नहीं है। यदि कोई तारेगा, तब फिर दूसरा कोई तेरेको डुबा देगा,-तब तू क्या करेगा ? अतः पराश्रयबुद्धि छोड़ दे। जीव स्वयं अपनेमें आत्माकी पहचान करके वीतरागविज्ञानके रागका अभाव करके तिरता है; और अन्य जीव भी जब ऐसा वीतराग-विज्ञान करेंगे

तभी वे तीरेंगे, इसप्रकार वीतरागविज्ञान ही सभीके लिये मुक्तिका उपाय है। उसमें अन्य जीव कुछ नहीं करता। दुसरोंको तारनेकी इच्छा आत्माका स्वरूप नहीं है, उपदेश-की भाषा आत्माकी नहीं है, इच्छासे या भाषासे आत्माको कोई लाभ नहीं, ज्ञानस्वरूपी आत्मा उन दोनोंसे भिन्न है, उसके वेदनमें इच्छाका अभाव है। इसप्रकार जिसने इच्छाको व ज्ञानको अलग जान लिया है उसको ही इच्छाके निरोधरूप तप होता है और उसे ही निर्जरा होती है। शरीरको कष्ट देनेसे निर्जरा होनेका जो मानता है उसको निजात्मशक्ति-के विकासरूप निर्जराका ज्ञान नहीं है, उसे तो देहबुद्धि है अतएव मिथ्यात्वका बड़ा आस्रव है। निर्जराधर्ममें तो आत्माकी शक्तिका विकास है, शुद्धताकी वृद्धि है, आनन्दका वेदन है, उसमें कष्ट नहीं— दुःख नहीं। ऐसी निर्जरा ही मोक्षका कारण है।

अज्ञानी देहमें और रागमें एकत्वबुद्धिपूर्वक जो तप करता है वह वास्तविक तप नहीं है, और उससे मोक्षके कारणरूप निर्जरा नहीं होती; मिथ्यात्वसहित होनेसे वह बाल-तप है अर्थात् मिथ्यातप है अज्ञानतप है; उसमें अकामनिर्जरा तो है परन्तु वह मोक्षका कारण नहीं है। मोक्षका कारण तो सम्यग्दर्शनपूर्वकका सम्यक् तप है, उससे सकाम निर्जरा होती है। निर्जराके ऐसे स्वरूपको अज्ञानी नहीं जानता और अन्यथा मानकर संसारमें भ्रमण करता है। जीव वीतराग-

विज्ञानके द्वारा ही ऐसे संसारभ्रमणसे छूटकारा पाता है।

भाषा और इच्छा ये जीवका धर्म नहीं हैं; जीव उन दोनोंसे भिन्न है। दूसरे जीव समजे या विरोध करें इससे इस जीवको कोई लाभ या नुकशान नहीं होता। दूसरोंको समझानेका जो शुभ विकल्प है वह अपनेको बन्धका कारण है,-चाहे वह बन्धन तीर्थंकर नामकर्म प्रकृतिका हो-किन्तु आखिरमें तो वह बंधन ही है; और जो बंधन है वह धर्म नहीं होता, और मोक्षका कारण भी नहीं होता। (यद्यपि तीर्थंकरप्रकृति धर्मीके ही बंधती है परन्तु वह धर्मसे नहीं बंधती धर्मके साथमें जो राग- अपराध शेष रहा है उसीसे वह बंधती है)। धर्मीको उस रागका, उस प्रकृतिका या उसके फलका आदर नहीं है, उससे वह अपनेको लाभ नहीं मानते, उससे भिन्नस्वरूप अपना अनुभव करते हैं। जितनी सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागता हुई उतना ही लाभ है और उतना ही धर्म है। आत्महितके उपायरूप ऐसे वीतरागविज्ञान-को अज्ञानी लोग नहीं पहचानते, उसको तो वे कष्टदायक मानते हैं और रागादिको सुखदायक मानते हैं। और ऐसी विपरीतमान्यतापूर्वक उनके व्रत-तपादि भी विपरीत ही होते हैं-यह बात आगेकी गाथामें दिखायेंगे। इसप्रकार तत्त्वकी समझमें अनादिसे जीवकी भूल है वह छुड़वानेके लिये श्रीगुरु-का उपदेश है।

भाई! तुम्हारे आत्माके ज्ञान बिना तुम बहुत दुःखी

हुए। आत्माके ज्ञानके विना परसन्मुख झुकाव रुकता नहीं, इच्छा टूटती नहीं और दुःख मिटता नहीं। जिन्होंने आत्माको देहसे भिन्न जान लिया है वे देहमें रोगादि होनेपर भी आत्मस्वरूपकी सावधानी नहीं चूकते। लाखों प्रतिकूलता हो तो भी मुझे क्या? —वे कोई मेरेमें तो नहीं है। परद्रव्य आओ या जाओ या छिन्न-भिन्न होवो, इसमें मुझे क्या? मैं तो ज्ञान हूं; ज्ञानमें न इच्छा हैं न संयोग। जिसको ऐसे निजरूपका भान नहीं है वह कदाचित् भगवानका नाम लेता हुआ मरे तो भी देहमें और रागमें ही मुर्छित है, उससे भिन्न निजस्वरूपकी जागृती उसको नहीं है। उसे मोक्षकी या मोक्षमार्गकी भी खबर नहीं है।

प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र, देहसे भिन्न, चेतनामय है, उसको न जानकर कोई ऐसा माने कि देह और आत्मा एक हैं, कोई ऐसा माने कि राग और आत्मा एक है, और कोई ऐसा माने कि मोक्षमें एक आतमा दूसरी आत्मासे मिल जाती है, —तो वे सब स्व-परकी एकत्वबुद्धिमें समान ही हैं। जैसे यहां भी प्रत्येक आत्मा अलग अपने-अपने भावमें रहकर अपने-अपने सुख-दुःखका वेदन करता है, वैसे मोक्षदशामें भी प्रत्येक मुक्त जीव अलग अपने-अपने स्वरूपमें रहकर अपने-अपने आनन्दका वेदन करते हैं, हरएकका स्वतत्र अस्तित्व है।

और, ऐसा भी नहीं कि कोई एक ईश्वर है उसमें यह जीव मिल जाता है, अर्थात् जीव ईश्वरका अंश है-ऐसा

नहीं है, परन्तु जीव स्वयं पूर्ण ईश्वर है। मोक्षमें अनन्त आत्मा भिन्न-भिन्न रहकर (भले एक ही क्षेत्रमें हो तो भी अपने अपने स्वरूपमें भिन्न रहते हुए) प्रत्येक आत्मा अपनी निजशक्तिका परम-ईश्वर है, आत्मा स्वय अपने ऐश्वर्यवाला ईश्वर है। आत्मामें अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्तिओंका पूर्णरूपसे प्रगट होना उसीका नाम ईश्वरपना है और इसीसे इश्वरको अनन्त शक्तिमान कहा गया है।

कोई दुर्मति ऐसा भी मानता है कि ज्ञानका अभाव हो जाना उसका नाम मोक्ष, —परन्तु ऐसा तो मोक्षका स्वरूप नहीं है। मोक्षदशा तो पूर्ण ज्ञान-आनन्दसे भरपूर है। ज्ञानादिकी पूर्णता होना वह मोक्ष है, इसके बदलेमें ज्ञानकी शून्यताको मोक्ष मानता है-यह तो बहुत विपरीतता है। मोक्ष होने पर यदि ज्ञानकी शून्यता हो जाती हो तब तो आत्मा जड़ हो जायेगा। तो फिर ऐसे मोक्षको कौन चाहेगा? ऐसा कौन होगा जो अपने ही अभावको इच्छे? मोक्षके लिये रागादि परभावोंसे छूटनेका है; परन्तु अपने ज्ञानादि निजगुणोंसे तो छूटनेका नहीं है। अज्ञानीओंकी भ्रमणाका पार नहीं अतः वे ज्ञानादि निजगुणसे छूटनेका मानते हैं। आप स्वय कौन हैं और अपने गुण कैसे हैं—उसकी उनको पहचान नहीं है। 'मोक्ष कह्यो निजशुद्धता'—उसकी जैसे प्राप्ति हो वही मोक्षका पन्थ है। मोक्षका स्वरूप समझनेमें जिसकी भूल हो उसके मोक्षके उपायमें भी भूल होगी ही।

जीवकी साततत्त्वमें भूल अनादिसे है, अतः कुगुरुओंके उपदेशके विना भी अनादिसे उसको मिथ्याश्रद्धा व मिथ्याज्ञान चल रहा है। उपयोगस्वरूप आत्मा मैं हूँ, और मेरी चाल पांच अजीव द्रव्योंसे जुदी है—ऐसे अपने भिन्नस्वरूपको समझनेसे अनादिकी भूल मिटती है।

- जीव स्वयं उपयोगस्वरूप है-उसे अज्ञानी नहीं जानता;
- देहादि अजीव अपनेसे भिन्न होनेपर भी उसे वह अपना मानता है;
- रागादिक आस्रव दुःखदायी होनेपर भी उसे वह सुखरूप मानकर सेवन करता है,
- पुण्य-पाप दोनों ही बंधनरूप होते हुए भी पुण्यबन्धनको वह अच्छा समझता है;
- संवरके कारणरूप जो ज्ञान-वैराग्य, उसे वह कष्टरूप समझता है;
- इच्छाके निरोधसे निजशक्तिके विकासरूप निर्जराको वह नहीं जानता;
- परम निराकुल आनंदस्वरूप मोक्षदशाको भी वह नहीं पहचानता;

—इसप्रकार सातों तत्त्वमें अज्ञानीकी भूल है। कोई बार शास्त्रअनुसार वह साततत्त्वको जान लेता है और शास्त्रअनु-

सार कह भी देता है, किन्तु अंतरमें अपने सच्चे स्वरूपके वेदनके विना सातों तत्त्वोंमें उसकी सूक्ष्म भूल रह जाती है। जब अंतरमें रागसे पार होकर अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे तभी तत्त्वका सच्चा श्रद्धान् और सच्चा ज्ञान होता है; और इसके बाद चारित्र होता है। ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रसे मोक्ष होता है।

अहा, मोक्षदशा तो सर्वथा आनन्दरूप है, और उसमें आकुलताका सर्वथा अभाव है; सबसे निरपेक्ष अकेला जीव अपनी शुद्धता सहित सदाकाल विराजित है,-उसे न राग-द्वेष है, न शरीर है, न इच्छा है, उसे इन्द्रियोंसे रहित परिपूर्ण ज्ञान है और इन्द्रियविषयोंसे रहित परिपूर्ण आत्मसुख है। इन्द्रियोंसे रहित पूर्णज्ञान व पूर्णसुख कैसा होता है-इसकी अज्ञानीको कल्पना भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो इन्द्रियज्ञानका व इन्द्रियसुखका ही अनुभव करनेवाला है, अतः मोक्षमें होनेवाले अतीन्द्रियज्ञानका व अतीन्द्रियसुखका अस्तित्व ही उसे नहो दीखता। अहो! अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुखका कोई अपार माहात्म्य है, श्री कुन्दकुन्दस्वामीने भी प्रवचनसारमें उसका बड़ा भारी महिमा समझाया है, जो उसका स्वरूप समझे उसे अपने में भी अतीन्द्रिय ज्ञान व अतिन्द्रियआनंदका अंश अनुभवमें आ जाता है। इन्द्रियज्ञानसे ऐसा स्वरूप समझमें नहीं आ सकता। जो अकेले इन्द्रियज्ञानमें या रागमें ही मग्न हैं वह तो कोई रागादिको साधन बनाकर

उससे मोक्षको साधना चाहता है, परन्तु ऐसा तो मोक्षका साधन नहीं है, मोक्षका सच्चा उपाय वह नहीं जानता।

इसप्रकार तत्त्वकी भूल सो मिथ्यात्व है; और मिथ्यात्व-सहितका जो कुछ जानपना या शास्त्रपठन आदि हो वह सब अज्ञान है; -मिथ्याज्ञान है; और ऐसे मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञानसहित जो कोई शुभाशुभआचरण है वह सब मिथ्याचारित्र है। ऐसे मिथ्या-श्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र जीवको महान दुःख देनेवाला है। अतः हे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे उसका अभाव कर। तेरे सच्चे स्वभावकी श्रद्धा तूने कभी नहीं की, उसका ज्ञान भी न किया, और न उसमें स्थिरता की; मिथ्यात्वादि विपरीत भावोंका सेवन करके तूने दुःख ही भोगा है। अब उससे छूटकारा पानेके लिये वीतरागी सन्तोंका यह उपदेश तू ग्रहण कर।

मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानके कारणसे जीवको तत्त्वोंके स्वरूपमें किसप्रकारकी भूल होती है यह दिखाया; अपनी यह भूल समझकर उसको टालना चाहिए और सम्यक्त्वादि प्रगट करके मोक्षमार्गमें लगना चाहिये। अब आगेकी गाथामें मिथ्याचारित्रका स्वरूप भी संक्षेपसे दिखाकर उसे छोड़नेका उपदेश देते हैं।

* मिथ्याचारित्रका स्वरूप *

जीवको दुःख देनेवाले ऐसे मिथ्याश्रद्धा तथा मिथ्याज्ञानका स्वरूप कहा, अब मिथ्याचारित्रका स्वरूप कहते हैं—

[गाथा : ८]

इन जुत विषयनिमें जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह।८।

तत्त्वमें जिसकी भूल है, श्रद्धा और ज्ञान जिसका मिथ्या है, उसको निजस्वरूपमें प्रवृत्तिरूप सच्चा चारित्र नहीं होता; वह मिथ्यात्वसहित बाह्य विषयोंमें ही वर्तता है, उसको मिथ्याचारित्र जानो। यह मिथ्यात्वादि नैसर्गिक है, क्योंकि कुगुरु आदि निमित्तके विना भी जीव निजस्वरूपको भूलकर ऐसी भूल कर रहा है; उसको अगृहीत कहते हैं। और कुगुरु आदिके निमित्तसे जीव जो विशेष मिथ्यात्वादि भावोंको ग्रहण करता है उसको गृहीत कहते हैं। उसका कथन आगे करेंगे।

चैतन्यस्वभाव शुभ-अशुभ दोनोंसे पार है, उसका श्रद्धाज्ञान करके उसमें चरना वही सच्चा चरित्र है, वह वीतरागभावरूप है। ऐसा सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जीवने पूर्वे कभी नहीं सेये। अज्ञान सहित मंदकषाय किया, शुक्ललेश्या भी की; परन्तु शुक्ललेश्या वह धर्म नहीं है। शुक्लध्यान अलग चीज है और शुक्ललेश्या अलग चीज है; शुक्लध्यान

तो मोक्षका कारण है, और शुक्ललेश्या तो उदयभाव है। अज्ञानीको शुक्लध्यान नहीं होता, शुक्ललेश्या किसीको हो सकती है। किसीको शुक्ललेश्या हो और अज्ञानी हो, किसीको कृष्णलेश्या हो और वह ज्ञानी हो, अतः लेश्याके आधारसे किसीका ज्ञानी-अज्ञानीपनेका निर्णय नहीं होता।

हे जीव! संसारके सर्व दुःखोंका कारण यह मिथ्यात्वादिक ही हैं; दूसरा कोई दुःख देनेवाला नहीं है,—ऐसा जानकर उसका त्याग करना चाहिए;-कैसे? कि सच्चे तत्त्वज्ञानके द्वारा मिथ्यात्वादिका नाश होता है। सच्चे तत्त्वज्ञानके विना इन्द्रियविषयोंकी अभिलाष कभी नहीं मिटती; भले शुभराग और शुभविषयों हो, किन्तु वे भी इन्द्रियविषय ही हैं, उनमें मग्न होनेवाला जीव अतीन्द्रिय स्वविषयको भूल रहा है। अनुकूल इन्द्रियविषय मिलने पर अज्ञानी अपनेको सुखी समझता है, एवं शुभराग होनेसे अपनेको सुखी और धर्मी मान लेता है,-परन्तु भाई! वह तो मिथ्याचारित्र है, इसमें सुख कैसा? और धर्म कैसा? वह तो दुःख है, अधर्म है। इसप्रकार अगृहीत मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्रको दुःखका कारण जानकर उसका त्याग करो।

अब अगृहीतके उपरांत, कुदेव-कुगुरु-कुधर्मके सेवनसे होनेवाला जो गृहीत मिथ्यात्वादि, उसका स्वरूप दिखाकर उसको छोड़नेका उपदेश करते हैं।

* गृहीत मिथ्यादर्शनका स्वरूप *

मिथ्यात्वपोषक कुदेव-कुगुरु-कुधर्मका सेवन छोड़नेका उपदेश

[गाथा ९ से १२]

जो कुगुरु-कुदेव-कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शनमोह एव ।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन-अम्बरतैं सनेह ।।९।।

धारैं कुलिंग लहि महंत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपल नाव ।
जो राग-द्वेष मलकरि मलीन वनिता-गदादिजुत चिह्न चीन ।१०।

ते हैं कुदेव, तिनकी जु सेव शठ करत, न तिन भवभ्रमण छेव ।
रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस-थावर मरण खेत ।।११।।

जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म ।
याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ।१२।

इन चार गाथाओंमें कुगुरु-कुदेव-कुधर्मका स्वरूप दिखाकर, उनका सेवन छोड़नेका उपदेश है, क्योंकि उनके सेवनसे जीवका बड़ा अहित होता है। हे जीव! ऐसे दुःखदायी मिथ्याभावोंको छोड़कर तू आत्महितके पंथमें लाग।

(१) कुगुरु आदिका सेवन तो अनादिके दर्शनमोहको पुष्ट करनेवाला है। कैसे है कुगुरु? —अन्तरमें तो जिनके मिथ्यात्व और रागादि हैं, तथा बाह्यमें धन-वस्त्रादिका स्नेह रखते हैं; शुद्ध दिगम्बरदशाके अतिरिक्त अन्य कुलिंगको धारण कर वे अपने महंतभावको पुष्ट करते हैं। वे कुगुरु जन्मजलसे भरपूर इस संसारसमुद्रमें पत्थरकी नावके समान हैं; —जैसे पत्थरकी नौका स्वयं तो डूबती है और उसमें बैठनेवाले भी डूबते हैं; वैसे कुगुरु भी स्वयं भवसमुद्रमें डूबते हैं और उनका सेवन करनेवाले भी भवसमुद्रमें डूबते हैं।

(२) कुदेव कैसे हैं? जो राग-द्वेष-मोहरूपी मैलसे मलिन हैं, और स्त्री-गदा-मुकुट आदिसे चिह्नित हैं वे कुदेव हैं, ऐसे कुदेवकी जो मूर्ख जीव सेवा करते हैं उनके भवभ्रमणका छेद नहीं होता। सच्चे सर्वज्ञ-वीतराग जिनदेव ही सुदेव हैं; उनसे विरुद्ध सरागीपनेमें या वस्त्रादि परिग्रहसहित दशामें देवत्व मानना सो देवकी विपरीत श्रद्धा है अर्थात् कुदेवसेवन है, और वह भवभ्रमणका कारण है। अतः उसका सेवन छोड़ना चाहिए।

(३) कुधर्म क्या है? -जो रागादि भावहिंसासे सहित है, और त्रस-स्थावरके मरणरूप द्रव्यहिंसाका स्थान है-ऐसी क्रियाओंको कुधर्म जानो. ऐसे कुधर्मका सेवन करनेसे जीव बहुत दुःखी होता है, अतः उसे छोड़ना चाहिए।

इसप्रकार कुगुरु-कुदेव-कुधर्मके सेवनरूप गृहीत मिथ्या-

त्वको दुःखदायक जानकर उसका त्याग करो, और सच्चे देव-गुरु-धर्मका स्वरूप पहचानकर, यथार्थ तत्त्वश्रद्धा करके सम्यग्दर्शनादि प्रगट करो, यह परम कल्याणका मूल है।

कोई जीव कुदेवादिका सेवन छोड़कर सच्चे देवादिककी पूजा-भक्ति करता है, प्राण चले जाय तो भी कुदेव-कुगुरुको नहीं मानता, परन्तु यदि इतने शुभरागमें ही रुक जावे और देव-गुरुने जो परमार्थ तत्त्व कहा उसकी सच्ची पहचान न करे, स्वसन्मुख होकर शुद्धात्माकी श्रद्धा न करे, तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसका गृहीतमिथ्यात्व तो छूटा परन्तु अभी अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटा। जीव गृहीत मिथ्यात्वसे छूटकर ऊंचे स्वर्गमें अनंतवार गया, क्योंकि गृहीतमिथ्यात्ववाला जीव ऊंचे स्वर्गमें नहीं जा सकता; उसको ऐसे ऊंचे पुण्य होते ही नहीं; ऐसे गृहीतमिथ्यात्वको छोड़ने पर भी अन्तरमें सूक्ष्मरूपसे रागको अपना स्वरूप मानकर उसके वेदनमें वह रुक गया, रागसे पार अपने शुद्धस्वरूपका वेदन उसने न किया, इस-कारण उसका अनादिका मिथ्यात्व न छूटा, और वह संसारमें रुलता ही रहा।

अहा, जैनधर्मका गुरुपद वह तो महान पवित्र परमेष्ठीपद है, जिनके अंतरमें मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषका परिग्रह नहीं है और बाहरमें वस्त्र-धन वगैरहका परिग्रह नहीं है, शुद्ध रत्न-त्रयमें वर्तते हुए वे आत्मिक आनंदका अनुभव करते हैं और मोक्षको साधते हैं। ऐसे पवित्र गुरुपदको जो नहीं मानते,

जिसके अंतरमें मिथ्यात्व-रागादि परिग्रह है, और बाहरमें भी धन-वस्त्र-मकान-स्त्री आदि परिग्रह रखते हैं-जोकि उस प्रकारके उनके अंतरंग मोहभाव को सूचन करनेवाले हैं, परम निस्पृह दिगंबरदशाके सिवाय अनेक प्रकारके कुलिंगसहित वर्तते हैं और अपनेको महानगुरु समझते हैं, —वे कुगुरु हैं; मिथ्यात्वके कारण वे स्वयं तो पत्थरकी नावकी तरह संसार-समुद्रमें डूबते हैं, और अन्य जो जीव वीतरागी गुरुओंका स्वरूप न पहचानकर ऐसे कुगुरुओंको सच्चा समझकर उनका सेवन करते हैं वे भी संसारसमुद्रमें डूबते हैं। अन्य कुगुरुने उनको नहीं डुबाये किन्तु उन्होंने स्वयं अपने भावमें मिथ्यात्वको पुष्ट किया इसलिये वे संसारमें डूबे। जैसे, पत्थरकी नौका तो नौकामें ही थी, किन्तु तू उसमें क्यों बैठा? बैठनेवालेको विचार करना चाहिये था कि जिसमें मैं बैठ रहा हूं वह नौका लकड़की है कि पत्थरकी? -तारनेवाली है कि डुबानेवाली? वैसे, कुगुरुओंका मिथ्याभाव तो उनके पास रहा, किन्तु तुमने क्यों उसको अच्छा माना? भाई! तुझे विचार करके विवेक करना चाहिये कि किसके सेवनसे मुझे लाभ है! जो स्वयं वीतराग है और वीतरागताका ही उपदेश देनेवाले हैं-उनके सेवनसे ही हित होगा, किन्तु जो स्वयं रागी है और रागके सेवनका उपदेश देनेवाले हैं- उनके सेवनसे हित नहीं होगा। अतः अपने हितके लिये सत्य-असत्य दोनोंको पहचानकर उसका विवेक कर और कुगुरुओंका सेवन छोड़!

पं० श्री टोडरमलजी कहते हैं कि अहो ! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधारसे तो धर्म है, इन विषे शिथिलता राखैं तब अन्य धर्म कैसे होय ? तातैं बहुत कहवो करि कहा ? सर्वथा प्रकार कुदेव-कुगुरु-कुधर्मका त्यागी होना योग्य है। कुदेवादिका त्याग न करनेसे मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होय है। यह जानि मिथ्यात्वभाव छोडी अपना कल्याण करो।

वीतरागशासनमें देव-गुरु-धर्म वीतरागताके ही पोषक हैं; जो रागसे धर्म मनाते हो अथवा देहकी क्रियाको आत्माकी मनाते हो ऐसे कोई देव-गुरु-धर्म वीतरागशासनमें नहीं है अर्थात् वे कुदेव-कुगुरु-कुधर्म हैं। उनको माननेसे तीव्र मिथ्यात्वभावके कारण जीवका बहुत अहित होता है। वे रागसे धर्म मानते हैं, वस्त्रादि परिग्रहसहित साधुपना मानते हैं, और साथमें महावीर भगवानका नाम देकर बातें करते हैं, किन्तु महावीर कौन थे इसकी उन्हें पहचान नहीं है, महावीरके मार्गको वे जानते नहीं है। वीरका मार्ग तो वीतरागताका मार्ग है; जो रागसे पार आत्मस्वभावकी वीरता-वीतरागता प्रगट करे वे ही वीरमार्गके उपासक हैं। रागसे धर्म मानकर जो रागका सेवन करते हैं वह वीरके वीतराग-मार्गके उपासक नहीं है। अहा, वीरका वीतरागमार्ग अद्भुत है ! परन्तु कुगुरुओंने उसको अन्यथा मना दिया। रागकी रुचिवाले जीव वीतराग-महावीरके सच्चे भक्त नहीं अपितु

उनके विराधक हैं। रागकी रुचिवाले जीवकी परिणित रागको नमती है, वीतरागभगवानको नहीं नमती; भले वह 'णमो अरिहंताणं' ऐसा बोलता हो, किन्तु उस समय भी उसकी परिणति रागकी ओर झुककर रागको ही नमती है, अरिहंतको नहीं नमती। यदि अरिहंतको नमे अर्थात् वीतरागी शुद्धस्वरूपकी सन्मुख होकर उसमें नमे, तो उसकी परिणतिमें सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव प्रगट हो जाय। अकेले रागमें स्थित रहकर वीतरागको नमस्कार नहीं हो सकता, रागसे भिन्न होकर वीतरागको नमस्कार होता है। यही बात श्री समन्तभद्रस्वामी महावीर भगवानकी स्तुतिमें कहते हैं कि—

हे जिन सुर असुर तुम्हें पूजें।
मिथ्यात्वीचित्त नहीं तुम पूजें॥

हे देव! सम्यग्दृष्टिका ही चित्त आपकी वास्तविक पूजा करता है, मिथ्याबुद्धिवाले अज्ञानीका चित्त आपकी पूजा नहीं कर सकता, क्योंकि रागसे भिन्न आपके स्वरूपको वह पहचानता ही नहीं है। जैसे तोता 'राम' बोलता है परन्तु रामका स्वरूप उसे मालूम नहीं है, वैसे अज्ञानी रागसे लाभ माननेवाला कदाचित् तोतेकी तरह 'महावीर'का नाम बोले परन्तु महावीरके स्वरूपकी उसे पहचान नहीं है। महावीर ऐसे नहीं थे—जो रागसे धर्म माने। और तू कहता है कि रागसे धर्म होगा, –तो तूने महावीरको माना कि रागको माना? महावीरको माननेवाला रागसे धर्म नहीं

मानता, और रागसे धर्म माननेवाला महावीरको नहीं पहचानता। रागरहित चिदानन्दस्वभाव मैं हूँ—ऐसी अंतरात्म-दृष्टि जिसने की वह अपने परमार्थ वीतरागस्वरूपमें झुका और उसने ही वीतराग महावीरको सच्चा नमस्कार किया। यह बात समयसारकी ३१वीं गाथामें कुन्दकुन्दस्वामीने अलौकिक रीतिसे समझाई है। अहा, वीतरागमार्गी सन्तोंकी कथनी ही जगतसे जुदी है, वह अन्तर्मुख ले जानेवाली है।

जैनधर्ममें गुरुपदवी अर्थात् मुनिदशा वस्त्रादि रहित ही होती है—यह त्रिकाली नियम है। जो वस्त्रादि परिग्रह सहित है वह गृहस्थ है, ऐसे गृहस्थको आत्माका ज्ञान हो सकता है, सम्यग्दर्शन हो सकता है, निर्विकल्प अनुभव और पंचम गुणस्थानरूप श्रावकपना भी हो सकता है, परन्तु साधुपना-मुनिपना उसको नहीं हो सकता। जैन साधुओंको अन्तरमें तीन कषायके अभावसे इतनी वीतरागता हो गई है कि शरीरके प्रति निर्मोहता हो गई है, अतएव वस्त्रादिसे देहके रक्षणकी वृत्ति ही उन्हें नहीं होती। मुनिपद वह तो परमेष्ठीका पद, उसकी वीतरागताका क्या कहना?

ऐसे वीतराग गुरुओंको छोड़कर अज्ञानी-कुगुरुओंके सेवन करनेसे तीव्र मिथ्यात्वका महान पाप होता है; अतः जिनको पापका भय हो, भवका भय हो, वे पापपोषक ऐसे कुगुरुकी श्रद्धा छोड़ो—ऐसा करुणापूर्वक श्रीगुरुओंका उपदेश है कुगुरुकी सेवामें रत श्रेणीकराजाने सच्चे वीतरागी गुरुकी

विराधना करके नरककी दीर्घ आयु बांध ली, और बादमें जब सच्चे गुरुको पहचानकर उनका सेवन किया तब आत्मज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर नामकर्म भी बांधा; और नरककी दीर्घ आयुमेंसे असंख्य वर्षका छेद कर दिया। अतः हे जीव ! सच्चे गुरुका स्वरूप पहचानकर कुगुरुकी मान्यताको तुम छोड़ दो, जिससे तुमारा हित होगा।

(गुरुकी विराधना) * (गुरुकी आराधना)

गृहीत मिथ्यात्व दशामें श्रेणीक राजाने यशोधर मुनिराजके ऊपर उपसर्ग किया, और नरककी आयु बांधी। वे यशोधर मुनिराज उपसर्ग दूर होने तक समताभावसे जैसे के वैसे ध्यानमें बैठे रहे; और बादमें उपसर्ग दूर होने पर श्रेणीकको भी धर्मवृद्धि कही। जैन मुनिराजकी ऐसी क्षमा तथा वीतरागता देखकर श्रेणीकको भी जैनधर्मकी श्रद्धा हुई, उसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, और व्रत या त्याग न होने पर भी तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। इसप्रकार मिथ्यात्वके

त्यागसे जीवका हित होता है। बाह्य परिग्रह छोड़कर भी अन्तरमेंसे मिथ्यात्व न छोड़ा तो जीवका हित न हुआ। एक शुभ विकल्पसे भी जीवको धर्मका लाभ मानना सो मिथ्यात्व है, वही बड़ा परिग्रह है, और वही पापका मूल है। मिथ्यादृष्टि जीव बाहरसे तो त्यागी हुआ परन्तु अन्तरमें अपने निष्परिग्रही (रागरहित) आत्मस्वभावको अनुभवमें न लिया और रागकी पकड़ न छोड़ी, इस कारण वह मोक्ष-मार्गमें न आया किन्तु संसारमार्गमें ही रहा। (प्रवचनसार गा. २३६ की टीकामें आचार्यदेव कहते हैं कि जिनके तत्त्वार्थ-श्रद्धान लक्षणवाली दृष्टि नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं है ऐसे जीवोंको स्व-परके विभागका अभाव होनेसे, वे काया और कषायोंकी साथ एकत्वका अध्यवसाय करते हैं, उन जीवोंको विषयोंकी अभिलाषाका त्याग नहीं है, अतः वे छ जीवनिकायके घातक हैं, और ऐसा होनेसे मोक्षमार्गके कारण-रूप संयम उन्हें नहीं होता।) काया और कषाय (-अशुभ या शुभ) उनसे भिन्न अपने उपयोगस्वरूप आत्माका अनुभव किये बिना मोक्षमार्ग नहीं होता; और ऐसे मोक्षमार्गके बिना गुरुपद नहीं होता।

गुरु तो अपने वीतरागस्वरूपको साधनेमें लीन हैं। उनके अन्तरमें मोहादि परिग्रहका त्याग होनेसे निमित्तरूप बाह्यपरिग्रह भी छूट गये हैं। अन्तरमें रागादिको और बाह्यमें वस्त्रादि-परिग्रहको ग्रहण करनेकी वृत्ति मुनिओंको कभी नहीं

होती। गुरुका स्वरूप इससे विपरीत मानना या वस्त्रादि परिग्रह सहितको गुरु मानकर पूजना सो कुगुरु-सेवन है। गुरु-पद अर्थात् मुनिदशा तो जिनलिंगी होती है।

प्रश्नः—कोई कुगुरु मिल जाय तो क्या करना?

उत्तरः—तो ऐसा जानना कि यह सच्चा गुरु नहीं है, वह स्वयं भी मिथ्याभावसे दुःखी है और उसका सेवन करनेवाला जीव भी मिथ्याभावकी पुष्टिसे दुःखी है,—ऐसा समझकर हमें उसका सेवन छोड़ना। इसमें किसीका अपमान करनेकी या द्वेष करनेकी बात नहीं है परन्तु अपने आत्माको मिथ्यात्वादि दोषोंसे बचानेकी बात है। सच्ची बातमें भी किसीको दुःख लगता हो तो उसका भाव उसकी पास रहा, इससे हमें क्या? यह तो सम्यक् भावसे स्वयं अपना हित कर लेनेकी बात है।

धरममें शरम नहीं होती, अर्थात् शरमसे या लोकलाजसे भी कुगुरुओंका सेवन धर्मी जीव नहीं करते। अपना हित

चाहनेवाले मुमुक्षुजीवको दुनियाँकी स्पृहा नहीं होती, दुनियाँ क्या बोलेगी-यह देखनेको वे नहीं रुकते; दुनियाँसे डरकर असत् देव-गुरु-धर्मका सेवन वे कभी नहीं करते; प्राण चले जायँ तो भी सच्चे देव-गुरु-धर्मसे विपरीत किसीको वे नहीं मानते। उनको अपने अन्तरमें वीतरागता ही इष्ट है अत. बाहरमें भी वीतरागताके ही पोषक देव-गुरु-धर्मको वे स्वीकार करते हैं, अन्तरमें शुद्ध चैतन्यस्वभावके सिवाय रागके किसी भी अंशको वे धर्म नहीं मानते, और बाह्यमें रागके पोषक ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुधर्मको वे नहीं मानते। इसप्रकार वीतरागमार्गी जीव निडर और निःशंक होकर आत्महितको साधते हैं। किसी कुगुरुको समाजके बहुत लोग मान रहे हैं और यदि मैं नहीं मानू तो दुनियाँ मुझे क्या कहेगी? और समाजमें मैं अकेला हो जाऊँगा!-ऐसा भय धर्मीको नहीं होता। मात्र शस्त्रधारी या वस्त्रधारी ही कुगुरु होते हैं-ऐसा नहीं है, किन्तु जो वस्त्र-शस्त्ररहित नग्न-दिगम्बर होकर भी वीतरागमार्गसे स्पष्टतः विपरीत प्ररुपणा करते हैं वे भी कुगुरु हैं उनको भी धर्मी जीव नहीं मानते। भाई, यह तो तेरे हितके लिये बात है।

प्रश्नः—किन्तु किसी कुगुरुके साथ पहलेका परिचय हो उसका क्या करना?

उत्तरः- पूर्वके परिचित हो तो भी कुगुरुका सेवन तो नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अहितका कारण है। जैसे पहलेका छोटेपनका कोई साथी हो और वह अज्ञानसे जहर खा

रहा हो, तो क्या उस साथीके साथ आप भी ज़हर खा लेते हैं?–नहीं; (अपितु उसको निषेध करना चाहिए कि भाई, तुम ज़हर मत खाओ।) तुम जहर खा रहे हो तो मैं भी तुमारी साथ ज़हर खाऊँगा–ऐसा साथीपना नहीं होता; ऐसा ज़हरका साथीपना तो छोड़नेको ही होता है। वैसे मिथ्यात्वरूपी ज़हरवाला जो विपरीत मार्ग, उसको माननेवाले और उसका उपदेश देनेवाले कुगुरुओंकी विनय या सेवा करनेसे मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है और भाव मरणसे आत्मा दुःखी होता है; अतः वह छोड़ने योग्य है; और वीतरागी देव–गुरु–धर्मके सत्संगसे सच्चा श्रद्धा-ज्ञान करने योग्य है।

* * *

जैसे कुगुरु और सच्चे गुरुका स्वरूप दिखाकर कुगुरुका सेवन छोड़नेका कहा, वैसे कुदेव और सच्चे देवका स्वरूप पहचानकर कुदेवका सेवन भी छोड़ने योग्य है; क्योंकि कुदेवका सेवन भी मिथ्यात्वकी पुष्टि करनेवाला है।

मूर्ख अज्ञानी लोग राग-द्वेषके कार्य सहित और गदा–चक्र–धनुष्य–बाण आदि चिह्नोंके सहित ऐसे रागी–द्वेषी मनुष्यको भगवान मानकर पूजते हैं सो कुदेव-सेवन है। राक्षसोंको मारकर भक्तोंकी रक्षा करना–ऐसा कार्य वीतराग भगवान नहीं करते, भगवानको किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं

होता। वीतराग होनेके पहले राजा-महाराजा जैसी सराग-दशामें ऐसा भाव हो सकता है, किंतु उस वक्त वे देवरूपसे पूजनीय नहीं हैं। जब वे सरागभाव छोड़कर, मुनि होकर वीतराग-सर्वज्ञ हुए तभी वे देव हुए, और ऐसे सर्वज्ञ वीतरागदेव ही पूजनीय हैं। वीतरागको वीतरागस्वरूपसे न पहचानकर कोई सराग मान ले तो उसकी मान्यतामें कुदेवका सेवन होता है, परन्तु इससे वीतराग भगवान तो कहीं सरागी नहीं हो जाते। सर्वज्ञ-वीतरागदेवकी पहचान करनेवालेको अपने सच्चे भावका लाभ है, और सच्चे देवका स्वरूप विपरीत मानने वालेको अपने ऊँधे भावसे नुकशान है। स्वयं भगवान तो अपने वीतराग स्वरूपमें ही विराजमान हैं। जैसे कि-भगवान महावीर, भगवान रामचद्रजी, हनुमानजी, भीम वगैरह—ये कोई कुदेव नहीं हैं, वे तो सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा होकर मोक्षमें विराजमान हैं, अब उन्हें अवतार नहीं है। ऐसे स्वरूपसे उनको पहचानकर पूजनादि करना योग्य है, और वह सुदेवपूजन है। परन्तु वे परमात्मा सर्वज्ञ-वीतराग होने पर भी कोई उनको रागी-द्वेषी-शस्त्रधारी-वस्त्रधारी आदि विकृत स्वरूपसे माने तो वे लोग सच्चे देवका स्वरूप नहीं जानते, राम वगैरह भगवानको वे नहीं पहचानते और अपने अज्ञानसे कुदेवका पूजन करते हैं; वे भगवान तो सच्चे भगवान ही हैं किन्तु इनको उसकी पहचान नहीं है। इसप्रकार अरिहन्तदेव (-राम-हनुमान आदि भी अरिहन्त

परमात्मा होकर मोक्ष गये हैं-वे सब अरिहन्तदेव) सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हैं, तो भी कोई अज्ञानी उनको वस्त्रादि परिग्रह सहित मानकर पूजे तो इससे कहीं अरिहंत भगवान दोषित नहीं हो जाते, परंतु उनका स्वरूप विपरीत माननेवालेको मिथ्यात्व होता है, और उनकी मान्यतामें कुदेव-सेवन होता है। अहा! जो भगवानका स्वरूप भी विपरीत माने वे आत्माके शुद्धस्वरूपको कहांसे पहचानेगा? जीव अपने इष्ट देवका जैसा स्वरूप माने वैसा स्वयं भी होना चाहे; अतः देवके स्वरूपमें जिसकी भूल होगी उसको अपने स्वरूपमें भी भूल होगी। रागी-द्वेषी जीव स्वयं अपने भव-भ्रमणका अन्त नहीं कर सकते तब फिर उनकी उपासनासे अन्य जीव कैसे तिरेगा? रागी-अज्ञानीको भजनेसे तो रागकी ही पुष्टि होती है। देव अर्थात् इष्टपदको प्राप्त भगवान, इष्ट पद तो वीतरागता और सर्वज्ञता है, क्योंकि जीवोंको सुख इष्ट है और पूर्ण सुख तो वीतरागता तथा सर्वज्ञतामें ही है; अतः सर्वज्ञ-वीतरागके सिवाय अन्य कोई इष्टदेव नहीं है। अहा! सर्वज्ञ-वीतरागदेव, जिन्होंने दिव्यध्वनि भी इच्छा-रहित सर्वज्ञस्वभाव और वीतरागी मोक्षमार्ग दिखाया,-उनके सिवाय रागी-द्वेषी कुलिंगीको जो पूजते हैं वे तो बड़े मूर्ख हैं, वे मिथ्यात्वकी पुष्टिसे अनन्तकाल तक भवभ्रमणमें रुलेंगे और दुःखी होंगे। अतएव संसार-दुःखका जिनको भय हो और आत्माके सुखको जो चाहते हो वे कुदेवका

सेवन छोड़कर, सर्वज्ञ वीतरागदेवको पहचानो और बड़ी भक्तिसे उनका सेवन करो।
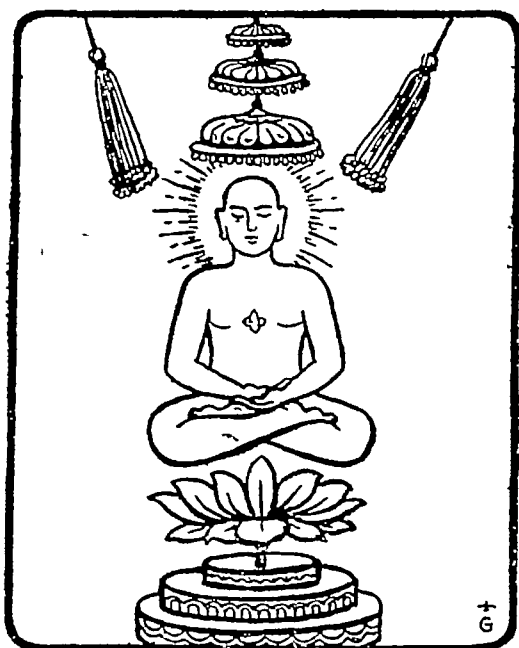
श्री कुंदकुंदस्वामी प्रवचनसारमें कहते हैं कि—अरिहंतदेवके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायको जो जीव पहचानते हैं वे अपने आत्माके शुद्धस्वरूपको भी पहचानते हैं और उनके मोहका क्षय होकर सम्यग्दर्शन होता है। अहो, अरिहन्त भगवानके आत्माका द्रव्य शुद्ध चेतनमय, उनके गुण भी शुद्ध चैतन्यरूप और उनकी पर्याय भी शुद्ध चेतनारूप, उनमें कहीं भी राग नहीं है; जैसा उनके आत्माका शुद्धस्वभाव है परमार्थसे वैसा ही इस आत्माका शुद्धस्वभाव है—ऐसी पहचान करनेसे

रागादि परभावोंके साथ एकत्वबुद्धि छूटकर परिणति अंतर्-स्वभावमें एकाग्र होती है, शुद्धस्वभावमें पर्यायकी एकता होने पर मोहका अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। उस जीवने ही अरिहन्तदेवके परमार्थ स्वरूपको पहचाना, और उसने ही सच्चे भावसे 'णमो अरिहंताण' किया।

अरिहंतकी पहचानके बिना उनका जो नाम लेते हैं उनको तो नामनिक्षेप भी सच्चा नहीं है; क्योंकि सच्चा निक्षेप नयपूर्वक होता है और नय सम्यक्श्रुतज्ञानपूर्वक ही होता है। अज्ञानमें कोई नय या निक्षेप सच्चा नहीं होता। सर्वज्ञको मूर्तिमें भी सर्वज्ञदेवकी स्थापनाका निक्षेप है अतः वह भी राग-द्वेषके चिह्नोंसे रहित ही होती है (जिनप्रतिमा जिनसारखी) जिसके देखनेसे सर्वज्ञ-वीतरागका स्वरूप लक्षमें आवे-ऐसी मूर्ति जैनशासनमें मान्य है, और उसमें सच्चा स्थापनानिक्षेप होता है। सारे विश्वको जाननेवाले, परन्तु करनेवाले नहीं किसीका, ऐसे सर्वज्ञ-वीतरागदेव और उनकी प्रतिमा पूज्य है, उनसे विरुद्ध कोई पूज्य नहीं है। इतनी पहचान करे तब गृहीतमिथ्यात्व छूटे, और आत्माकी पहचान करे तब अगृहीत मिथ्यात्व छूटकर सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्नः—प्रतिमा तो अजीव पदार्थसे निर्मित है, तो क्या आप उनको जीव मानते हो ?

उत्तरः—प्रतिमा अजीव होते हुए भी ज्ञानबलसे उसमें भगवानकी स्थापना है, और भावनिक्षेपसे भगवान कैसे होते

है उसका धर्मीको ज्ञान है; अतः वे भगवानका स्मरण करके, और प्रतिमाजीमें उनकी स्थापनाका संकल्प करके भक्ति-विनय-वंदन-पूजन करते है, वह योग्य है। उसमें यद्यपि शुभराग है परंतु वह मिथ्यात्व नहीं है क्योंकि उसमें देवका स्वरूप तो विपरीत नहीं माना है। जिनको भावनिक्षेपसे भगवानके स्वरूपकी पहचान नहीं है वे लोग स्थापनानिक्षेपरूप भगवानका भी निषेध करते हैं, उन्होंने भगवानको पहचाना ही नहीं है। अहा, धर्मात्माके अंतरमें तो सर्वज्ञ परमात्मा बस रहे हैं, उनके श्रद्धा-ज्ञानमें परमात्मा विराजते हैं, इसलिये उनके भक्ति आदिके भाव भी अलौकिक होते हैं...स्थापना-निक्षेप भी उन्हें ही सच्चा होता है। जैसे पिताके प्रति बहुमानवाला पुत्र चित्रमें उनका स्थापन करके कहता है कि 'ये मेरे पिताजी हैं,'-वहां उसको सच्चे पिताका एवं स्थापनारूप पिताका दोनोंका ख्याल है, वैसे सर्वज्ञपद जिनको प्रिय है ऐसे साधक जीव, अपने परमप्रिय धर्मपिता सर्वज्ञदेवको पहचानकर प्रतिमा वगैरहमें भी उनकी स्थापना करके बहुमान करते हैं कि 'ये मेरे भगवान, ये मेरे धर्मपिता; हम जिनदेवके पुत्र।'-इसप्रकार इष्टदेवके प्रति धर्मी जीवको बहुमान आता है।

देवगतिके जीवोंको भी देव कहनेमें आता है, परंतु ये देव वीतराग-सर्वज्ञ नहीं हैं। जगतमें अरिहंतदेव और सिद्ध-देव यही सच्चे वीतराग-सर्वज्ञ देव हैं, वे ही इष्ट परमेश्वर

और परमात्मा हैं। अरे, मुर्ख लोग ऐसे सत्य परमात्माको भूलकर पीपल आदि वृक्षको तथा सर्प-बंदर आदि पशुको भी देव समझकर पूजते हैं, और भी अनेक प्रकारके रागी-द्वेषी कुदेवोंको देव मानकर पूजने लग जाते हैं, अरे, और तो क्या! सच्चे वीतरागी देवमें भी राग-द्वेषरूप कार्य (हिंसा, आहारादि) होनेका मानकर उनका स्वरूप विकृत बना देते हैं; उन सबको देवमूढता है; उनमें बहुत अविवेक और मिथ्यात्वकी तीव्रता है। देव-गुरुका सच्चा स्वरूप व्यवहारसे पहचाने, उनके कहे हुए वीतरागधर्मकी श्रद्धा करे, और बादमें वैसा अनुभव करने तक- जबतक न पहुँचा हो तबतक जीवके मिथ्यात्वको मंदता रहती है, परंतु जिनकी समझ ही विपरीत है, और देव-गुरुका सच्चा स्वरूप भी जो न जानते हैं-न मानते हैं, विपरीत मानकर कुदेव-कुगुरु-कुधर्मका सेवन करते हैं, उनके तो मिथ्यात्वकी तीव्रता है। ऐसे जीवोंको अत्यन्त करुणापूर्वक समझाते हैं कि हे भाई! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो भगवान अरिहंतदेवके सिवाय अन्य किसी भी देवको मानना छोड़ दो, हितका सच्चा मार्ग दिखलानेवाले भगवान अरिहंत ही हैं। ऐसे वीतराग भगवनाको छोड़कर मोही जीवोंको कौन भजेगा?-जो स्वय तीव्र मोही होगा वोही उनको भजेगा; किन्तु जो विवेकी अपना हित चाहनेवाला है वह तो किसी भी कुदेवको भजेगा ही नहीं। भाई! मोही जीव तो तेरे जैसा ही है, उसको भजनेसे तो तेरा मोह ही

पुष्ट होगा और तू संसारमें डूबेगा। अरे, जिस परम सुख-रूप इष्टपदको तुम चाहते हो वैसा अपने इष्टदेवको तो पहचानो। जो अपने इष्टदेवको भी न पहचाने उसकी मूर्खताका क्या कहना ?

इसप्रकार कुदेव और सच्चे देवके स्वरूपकी पहचान कराकर कुदेवका सेवन छोड़नेका उपदेश दिया। अब कुगुरु और कुदेवकी तरह कुधर्मका भी सेवन छोड़ानेके लिये उसका स्वरूप दिखाते हैं।

* * *

हिंसामें धर्म नहीं होता

*

रागादिक भावहिंसा और त्रस-स्थावरके घातरूप द्रव्य-हिंसा,-ऐसी हिंसा सहित मिथ्या क्रियामें वह कुधर्म है। ऐसे कुधर्मका सेवन सो तीव्र मिथ्यात्व है। जैनधर्म तो वीतरागताका ही पोषक है, वीतरागभाव ही धर्म है। जो यज्ञादिकमें पंचेन्द्रिय पशुको होमकर उसमें धर्म माने, अपने शरीरका मांस काटकर दूसरे मांसाहारीको खिलानेमें दानधर्म माने, नदी-समुद्र आदिमें स्नान करनेसे धर्म माने, यह सब कुधर्मका

सेवन है, उसमें हिंसाकी पुष्टि है। यदि त्रस जीवोंकी हिंसासे भी धर्म होगा तो फिर नरकमें कौन जायगा? त्रस-हिंसाके तीव्र पापका फल तो नरक ही है, उसमें धर्म कैसा? जबकि शुभरागको धर्म माननेवालोंको भी सच्चे धर्मकी पहचान नहीं-तब फिर पापमें धर्म माननेवालेकी तो बात ही क्या? शुभरागसे स्वर्ग मिलता है, मोक्ष नहीं; तो मोक्ष वीतरागभावसे ही मिलता है, अतएव वीतरागभाव ही धर्म है; और वीतरागभाव शुद्धात्माके अनुभवसे ही होता है, अतः शुद्धात्माका अनुभव ही धर्म है।

वीतरागी देव-गुरुकी पूजादिमें शुभभाव है; उसमें यद्यपि अल्प हिंसा है परन्तु—एक तो उसमें हिंसाका अभिप्राय नहीं है, दूसरा यह कि श्रावकके द्वारा स्थावर हिंसाका निवारण नहीं हो सकता, और तीसरा यह कि उस हिंसाको वे धर्म नहीं मानते। उसमें हिंसा अल्प है और शुभभाव अधिक है ('सावद्य लेशो बहु पुण्यराशि') अतः अशुभ रागसे बचनेके लिये पूजन-भक्तिका शुभभाव योग्य ही है। उसमें हिंसाका या राग-द्वेषकी पुष्टिका अभिप्राय नहीं है, परन्तु वीतरागताका ही बहुमान व अनुमोदन है; उस क्रियाको अहिंसाकी अनुबन्धनी कही गई है। स्थावर हिंसाका जिनमें परिहार नहीं हो सकता किन्तु त्रसहिंसासे और अशुभपरिणामों-से जो बचती है ऐसी शुभक्रियाएँ, पूजा-आहारदानादि, गृहस्थ भूमिकामें होती हैं। बादमें मुनिदशामें शुद्धोपयोग होने पर ऐसा

शुभराग भी छूट जाता है। जो गृहस्थ अपने परिणामोंका विवेक न करके चाहे जैसे हिंसा-कार्यमें प्रवर्तने लग जाय-उसकी यह बात नहीं है; रात्रिको चाहे जैसा आरम्भ-समारम्भ, या जिसमें त्रस जीवोंका निकंदन नजरों दीख पड़ता हो-ऐसे कार्य तो गृहस्थको भी नहीं करना चाहिए, रात्रिके समय भोजन या पूजनादि कार्य भी वह न करें। सब तरहका विवेक होना चाहिए। भाई, सर्वज्ञके मार्गमें तो जिस किसी भी तरह अपना कषाय मिटे और वीतरागता हो ऐसे विवेकसे प्रवर्तन करना चाहिए। अपने परिणामको देखकर, जैसे अपनेको वीतराग-विज्ञानका लाभ हो ऐसा आचरण करना चाहिए। धर्मके नाम पर जिससें त्रसहिंसा होती हो, या किसी प्रकारकी हिंसाको धर्म मनाया जाता हो-ऐसे कुमार्गको कुधर्मको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए। वह कुमार्ग तो विषय-कषायोंका पोषक है, उसके सेवनमें जीवका बहुत अहित है। हे भाई! तुम सच्चे मार्गको तो पहचानो—कि जिसके सेवनसे तुम्हारा हित हो!

देव-गुरु-धर्मकी पहचानमें जिसकी भूल है और विपरीतका जो सेवन करता है उसको गृहीतमिथ्यात्व है, और उस गृहीतमिथ्यात्वको छोड़कर जो सच्चे देव-गुरुका सेवन करता है परन्तु जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ निर्णयमें जिसकी भूल है उसको भी अबतक अगृहीत मिथ्यात्व है; सच्चे देव-गुरु-धर्मको पहचानकर और उनसे प्रतिपादित जीवादि

तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप पहिचानकर श्रद्धा करनेसे, गृहीत एवं अगृहीत दोनों मिथ्यात्व छूटकर अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है, यह महान कल्याणका करनेवाला है।

इसप्रकार ९ से १२ चार गाथाओंमें कुगुरु-कुदेव-कुधर्मके सेवनरूप गृहीतमिथ्यादर्शनका स्वरूप दिखलाकर उसके त्यागका उपदेश दिया; अब गृहीतमिथ्यादर्शनके सहकारी गृहीत-मिथ्याज्ञानका स्वरूप दिखलाकर उसके भी त्यागका उपदेश १३ वीं गाथामें करेंगे।

गृहीत मिथ्याज्ञानका स्वरूप और उसके त्यागका उपदेश

गृहीत मिथ्यादर्शनके साथ गृहीत मिथ्याज्ञानके भी त्यागका उपदेश देते हैं—

[गाथा : १३]

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक-पोषक अप्रशस्त ।
कपिलादि रचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास ॥१३॥

आत्माको जो दुःखका कारण है उसे छोड़नेकी बात चल रही है। दुःखका कारण दूसरा कोई नहीं है परन्तु जीवका अपना मिथ्याभाव ही दुःखका कारण है। द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वस्तु अनेकान्तरूप है, उसको नहीं जाननेवाले अज्ञानीयोंके द्वारा रचित जो शास्त्र हैं वे सब एकान्तवादसे दूषित हैं एवं विषय-कषायके पोषक हैं; तथा अप्रशस्त हैं, अच्छे नहीं हैं किन्तु जीवका अहित करनेवाले हैं, अतः वे कुशास्त्र हैं; और उनका अभ्यास, उनकी मान्यता उनको सच्चा समझकर वांचन-श्रवण करना—ये सब कुज्ञान हैं; वह गृहीत-मिथ्याज्ञान है, और वह जीवको बहुत त्रास देनेवाले हैं; अतः उनका सेवन छोड़ देना चाहिए।

वीतराग-सर्वज्ञ अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट जो अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप, उससे वितरीत कहनेवाला कोई भी शास्त्र दुनियाँमें चाहे जितना प्रसिद्ध हो और किसीका भी बनाया हुआ हो तो भी, वह कुशास्त्र है। निगोदसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके अनन्त जीवोंमें तो शास्त्र पढ़नेका ज्ञान ही नहीं है, ज्ञानका इतना क्षयोपशमभाव ही उनको नहीं है। अरे जीव! अब तेरेको ज्ञानका विकास होकर वांचन जितनी बुद्धि मिली, और तू यदि विषय-कषायके पोषक, रागके पोषक, अज्ञानके पोषक ऐसे कुशास्त्रोंमें ही बुद्धिका दुरुपयोग करेगा तो तेरी यह बुद्धि दुर्बुद्धि है, मिथ्याबुद्धि है। अतः हे भाई! वीतरागदेवके मार्गमें आकर तू अपनी बुद्धि यथार्थ तत्त्वकी समझमें जोड़, जिससे तेरा कल्याण हो।

अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष-संपूर्ण ज्ञानसे जगतको साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि जगतमें भिन्न-भिन्न अनंत जीव हैं; प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूपी है और अपने-अपने अनंत धर्म सहित है। जीव और अजीव सभी पदार्थोंमें अपने-अपने स्वाधीन अनन्त गुण-पर्याय हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है; स्व-परको जाननेका जीवका स्वभाव है; जानना उसमें राग नहीं आता, अतएव आत्मा वीतराग-विज्ञानका घन है। ऐसा जानकर अनुभव करे तब अनादिका अज्ञान मिटकर सम्यग्ज्ञान होता है।

ज्ञानका काम है-जानना। राग-विकल्प करना यह काम

ज्ञानका नहीं है। निर्विकल्प होकर ऐसा ज्ञानस्वभाव अनुभवमें लेते ही रागादि परभावोंका कर्तृत्व छूट जाता है, और वीतरागी आनन्दका अनुभव होता है। ऐसे अनुभवसहित आत्माको जाने तब ही आत्माकी सच्ची पहचान होती है और तब ही अगृहीत मिथ्यात्व मिटता है।

अरे, अज्ञानीके बनाये हुए, नास्तिकताके पोषक ऐसे कुशास्त्रोंका जो सेवन करता है, इस जीवको ईश्वरने बनाया —ऐसी पराधीनता माननेवाले शास्त्रोंका जो सेवन करता है, युद्ध वगैरहके उपदेशक शास्त्रोंका जो सेवन करता है, उसको तो कुज्ञानका सेवन है; तदुपरांत, जैनके नाम पर रचे गये शास्त्रोंमेंसे भी जिसमें वीतरागी देव-गुरु-धर्मका स्वरूप विपरीत दिखता है, जिसमें सर्वज्ञ देवको भी खान-पान कहा हो, गुरु-मुनिको वस्त्रादिसहित कहा हो, और सम्यग्दर्शनके बिना अकेले रागसे भवका छेद होनेका कहा हो, ऐसे शास्त्रको निःशकतासे

卐 卐卐

卐 卐卐

कुशास्त्र समझ लेना। ऐसे कुशास्त्रके सेवनमें गृहीत मिथ्याज्ञान

है, और वह भयंकर भवदुःख देनेवाला है।) इसलिये ऐसे कुशास्त्रोंका सेवन छोड़ देना चाहिए, और जिनमें देव-गुरु-धर्मका तथा आत्माके हितका यथार्थ स्वरूप समझाया हो ऐसे वीतरागी शास्त्रोंका सत्यस्वरूप समझकर सम्यग्ज्ञान करना चाहिये, यही परम हितका कारण है—

'ज्ञानसमान न आन जगतमें सुखको कारन,
यहपरमामृत जनम-जरा-मृत रोग निवारन।'

ऐसा आगे चौथी ढालमें कहेंगे।

* * *

जिनवाणीरूप वीतरागी शास्त्र निजस्वरूपका ऐसा निर्णय कराते हैं कि मैं ज्ञान हूं, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरी क्रिया है। राग-द्वेषको ज्ञान नहीं कहते। जैसे सूर्य किरणमें अन्धकार नहीं है वैसे ज्ञानसूर्यके किरनमें राग-द्वेष नहीं है; जैसे केवलज्ञानमें राग नहीं है वैसे मतिश्रुत-ज्ञानमें भी राग नहीं है; ज्ञान तो ज्ञान ही है, ज्ञान राग नहीं है। रागको जानते समय भी जो ज्ञान है वह तो ज्ञान ही है, और राग है सो राग ही है, दोनों भिन्न हैं, एक नहीं हो गये। —अहा! ऐसा भेदज्ञान वही सच्चा ज्ञान है। 'भेदज्ञान सो ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान।'

मतिश्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनोंकी जाति एक सी है। यद्यपि मतिश्रुतज्ञानकी ताकत अल्प है, वह अल्पकाल रहता

है और अल्प ही जानता है, जबकि केवलज्ञानकी शक्ति अनन्त-अपार है वह अनन्तकाल तक रहनेवाला है और सबको जानता है,—इतना फर्क रहते हुए भी दोनों ज्ञान ज्ञानस्वरूपी चेतनामय ही हैं; इनमें अधूरा और पूरा—ऐसा भेद भले हो, किन्तु स्वरूपमें भेद नहीं है। एक ज्ञान रागवाला और दूसरा ज्ञान रागसे रहित—ऐसे अलग-अलग दो जातिके तो ज्ञान नहीं हैं; सभी प्रकारके ज्ञान रागरहित ही हैं, रागसे भिन्न ही हैं; चाहे छोटा मतिज्ञान हो या बड़ा केवलज्ञान हो—किसीमें भी राग घुस नहीं सकते, राग तो ज्ञानसे बाहर ही रहते हैं। भाई, ऐसे तेरे ज्ञानको एकबार निर्णयमें तो ले। ऐसा ज्ञानस्वरूप जो दिखावे वही शास्त्र सच्चा, और जिसने ऐसा ज्ञानस्वरूप अनुभवमें लिया उसीका शास्त्रज्ञान सच्चा। यही सत्शास्त्रोंका रहस्य है कि परसे भिन्न अपने ज्ञानस्वभावका अनुभव करना। सभी शास्त्रोंका नीचोड़, सभी शास्त्रोंका रहस्य ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें ही समा जाता है, इसीको 'ज्ञानचेतना' कहते हैं। ऐसी ज्ञानचेतनासे ही अनादिका अज्ञान नष्ट होता है। इससे विपरीत माननेवालेके अन्तरमें सुशास्त्रके रहस्यका परिणमन नहीं हुआ है।

जिनशास्त्र तो वीतरागविज्ञानके ही पोषक हैं; परन्तु जिसके अभिप्रायमें ही मिथ्यात्व हो और उसको वह छोड़ना न चाहे तो शास्त्र उसे क्या करे? जो जीव वीतरागी शास्त्रोंको पढ़कर भी अपनी कुमति नहीं छोड़ता उसका मिथ्यात्व नहीं

मिटता,-वास्तवमें तो उसने शास्त्र पढ़ा ही नहीं है क्योंकि शास्त्रका सच्चा वाच्यभाव उसने नहीं जाना। शास्त्र क्या दिखाते हैं? शास्त्र परसे भिन्न और अपने गुण-पर्यायोंसे एकत्वरूप ऐसा ज्ञानस्वभाव दिखाता है; इसको जानकर परभावोंसे भिन्न ज्ञानस्वभावरूप परिणतिका होना यही शास्त्रका सार है, यही धर्म है और यही मोक्षमार्ग है। बिचमें उसके साथ जो व्यवहार-रागादि होते हैं वह जानने योग्य हैं, आदरने योग्य नहीं, आदरने योग्य अर्थात् अनुभव करने योग्य परम शुद्ध ज्ञायकभाव ही है; उसमें जो एकाग्र हुआ उसको रागरूप व्यवहार नहीं रहता, निर्मलपर्यायरूप आत्मव्यवहार रहता है। अहो, जिनागम सर्वोत्कृष्ट परम भावका अनुभव करता है।—'रचना जिन-उपदेशकी सर्वोत्कृष्ट तीनों काल।' कोई भी वीतरागशास्त्र आत्मामें सन्मुखता कराते हैं, भूतार्थ-स्वभावका अनुभव कराते हैं।

प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक ऐसे अनन्त स्वभावसे सहित है, उसे अनेकान्त कहते हैं। ऐसी अनेकान्तरूप वस्तुको सर्वथा क्षणिक मानना अथवा सर्वथा अपरिणामी मानना सो मिथ्यामत है। वस्तुके सर्वांगको अर्थात् उसके सभी धर्मोंको न मानकर एक अंगको ही एकान्त पकड़कर उसको ही मान लेनेसे वस्तुकी सिद्धि नहीं होती। छह अंधे मनुष्य जैसे हाथीकी पूंछ, सूंड, कान, पग वगैरह एक ही अंगको अलग अलग पकड़ कर उसको ही हाथी मान बैठे,

उन्होंने सच्चे हाथीको नहीं जाना; वैसे अज्ञानी-अंधे लोग एकसाथ अनन्त धर्मवाली वस्तुको न जानकर, नित्यता-अनित्यता आदि एक ही धर्मको अलग अलग पकड़कर उसरूप ही वस्तुको मान लेते हैं, सच्ची वस्तुको वे नहीं जानते। वस्तु नित्यताके बिना टिक नहीं सकती, और अनित्यताके बिना उसमें परिणमनरूप कार्य नहीं हो सकता, इस प्रकार अनेकान्तसे ही वस्तुकी सिद्धि है, अनेकान्तमें तो गम्भीर रहस्य भरे हुए हैं, वह वस्तुके अनेक धर्मोंको साथ ही साथ रखकर यथार्थ वस्तुस्वरूपको प्रसिद्ध करता है, ऐसे वस्तु-स्वरूपको जो प्रसिद्ध करे वही शास्त्र सच्चा, और ऐसे वस्तु-स्वरूपको जो जाने वही ज्ञान सच्चा।

जो शास्त्र विषय-कषायके पोषक हो, युद्ध-हिंसा आदिकी अनुमोदना करनेवाले हो, जीवको पराधीन कहनेवाले हो, और रागसे या इन्द्रियज्ञानसे धर्म मनाते हो, तो वे भी कुशास्त्र हैं, उनकी मान्यतासे कुज्ञानकी पुष्टि होती है। स्व-विषयरूप जो पूरा अतीन्द्रिय ज्ञानमय वीतरागस्वरूप आत्मा, उसका स्वरूप कुशास्त्र नहीं दिखा सकते। अतः ऐसे कुशास्त्र अप्रशस्त हैं, बुरे हैं, सत्य सिद्धांतसे विरुद्ध हैं और जीवका अत्यत अहित करनेवाले हैं, इसलिये अपना हित चाहनेवाले जीवोंको उनका सेवन छोड़ देना चाहिए।

अहो, सम्यग्ज्ञानके महिमाकी लोगोंको पहचान ही नहीं है। लोगोंका अधिक भाग तो अज्ञानपूर्वक धर्मके नाम पर

रागको ही चारित्र समझकर मिथ्याचारित्रका सेवन कर रहा है; परन्तु सम्यग्ज्ञानके विना सम्यक्चारित्र कदापि नहीं होता। और सम्यग्ज्ञानसे रहित क्रियाएँ जीवको हितकर नहीं होती। कौन शास्त्र सच्चा है और कौन शास्त्र मिथ्या है-जिसको यह भी नहीं मालूम, और सच्चे शास्त्रका भी अर्थ समझना जिसको नहीं आता, जो अपनी कल्पना अनुसार विपरीत अर्थ करके अज्ञानको दृढ करता है, उसने भी गृहीत अज्ञानको छोड़ा नहीं है। भाई! अज्ञान महान दुःखकर है, ऐसा जानकर अब तो उसका सेवन छोड़ो। ऐसा सुअवसर बारबार नहीं आता।

अहो, यह तो सम्यग्ज्ञान सहित वीतरागताका मार्ग है... यही परम हितकर है। 'मंगलमय मंगलकरन वीतराग-विज्ञान'— वीतराग विज्ञानके विना जीवका किसी भी प्रकारसे हित नहीं होता; अरिहन्तादि इष्ट पदकी प्राप्ति जीवको वीतरागविज्ञानसे ही होती है। और ऐसे वीतरागविज्ञानका यथार्थ उपदेश सर्वज्ञदेवकी वाणीमें और ज्ञानी-सन्तोंके द्वारा रचित शास्त्रोंमें ही है। कुमति-अज्ञानीओंके द्वारा रचित कुशास्त्रोंमें वीतरागविज्ञानका सच्चा उपदेश नहीं होता, वे तो राग द्वेष-अज्ञानके पोषक हैं।

गुण-गुणी (ज्ञान और आत्मा) सर्वथा जुदे नहीं हैं तो भी उनको जो जुदा माने, जैसे—ज्ञान आत्मासे उत्पन्न होता तो भी बाह्यपदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति माने तो वह जीव गुण-गुणीको सर्वथा जुदे मानता है, -ऐसी विपरीत मान्यताका पोषक शास्त्र सो भी कुशास्त्र है। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वरूप

है, उसका ज्ञान बाहरसे नहीं आता।

यह जगत किसीका बनाया हुआ नहीं है, जगतके जड़-चेतन सभी पदार्थ अकृत्रिम स्वयंसिद्ध हैं; और प्रत्येक वस्तुमें अपने अपने गुण भी स्वयंसिद्ध हैं, कोई संयोगसे उन गुणोंकी उत्पत्ति नहीं हुई। 'सब मिलकर एक अद्वैत ब्रह्म है और दूसरा कुछ सत् है ही नहीं, अथवा ईश्वर इस जगतका कर्ता-हर्ता है' -ऐसा नहीं है, तो भी ऐसा मानना सो गृहीतमिथ्यात्व है, और ऐसा प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र वे कुशास्त्र अज्ञान के पोषक हैं; वीतरागी ईश्वरका सच्चा स्वरूप उसने नहीं पहचाना।

सर्वज्ञ-अरिहंतदेवके भी कवलसे आहार, निर्ग्रंथ साधुके भी वस्त्र, भगवानको भी रोगादि मलमूत्र —इसप्रकार देव-गुरुके सम्बन्धमें अत्यन्त विपरीत प्ररूपणा जिसमें हो वह भी गृहीत मिथ्याज्ञानके ही पोषक कुशास्त्र हैं, ऐसा समझना; और अपने हितके लिये उसका सेवन छोड़ना।

मात्र पर जीवकी दयाका शुभभाव अथवा आहारदानका शुभभाव यह राग है, उस रागसे मोक्ष होनेका कहना सो विपरीत कथन है। वीतरागी जैन सिद्धान्तमें रागको तो बन्धका ही कारण कहा है, शुभराग भी बन्धका ही कारण है, मोक्षका नहीं। मोक्षका कारण तो वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। रागरहित अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा उसके ही आश्रयसे भवका अभाव होता है, रागके आश्रयसे

कभी भी भवका अभाव नहीं होता। सच्चे मुनिको आहार-दान देनेके फलमें भोगभूमिकी प्राप्ति कही गई है किन्तु मोक्ष नहीं कहा। श्रेयांसकुमार आदिको तो आहारदान देते समय अन्तरमें आत्माका सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान था, वही मोक्षका कारण हुआ है, —न कि आहारदानका शुभराग। अहा, वीतरागी-शास्त्रोंने तो वीतरागमार्ग ही प्रकाशित किया है, जहां उपचरित कथन हो वहां भी वीतरागभावरूप मोक्षमार्गसे अविरुद्ध आशय समझकर उसका अर्थ समझना चाहिये। व्यवहार पराश्रित है अतः वह त्याज्य है, निश्चय स्वाश्रित है अतः वह आदरणीय है। वीतरागी शास्त्रोंके कथनमें कहीं भी परस्पर विरुद्धता नहीं होती। शास्त्रको पढ़कर जो किसी भी तरह रागकी या पराश्रयभावकी पुष्टिका अभिप्राय निकाले उसने शास्त्रका सच्चा अर्थ नहीं समझा। वीतरागी शास्त्र तो पराश्रयको और रागको छुड़ानेवाला है, पोषनेवाला नहीं।

कोई अज्ञानी, प्रगटरूपसे कुशास्त्रको भले न मानते हो परन्तु सच्चे शास्त्रके नाम पर भी यदि कुशास्त्रोंके जैसी ही मिथ्यामान्यताकी पुष्टि करते हो तो उनके भी गृहीत-मिथ्या-अज्ञान विद्यमान ही है। यही बात 'सत्तास्वरूप'में कहते हैं कि-सर्व अरिहन्तदेव और अन्य कुदेव—उनके बीचमें जो बड़ा अन्तर है इसकी पहचानके विना, यदि कोई जीव अरिहन्तदेवको ही माने और दूसरोंको किसीको भी न माने तो भी उनके गृहीत मिथ्यात्वका त्याग नहीं है। व्यवहारसे देवके सच्चे

स्वरूपकी पहचानके विना गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूटता; उसीप्रकार सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रके सम्बन्धमें भी समझ लेना।

परम सत्य वीतरागमार्गके प्रकाशक सर्वज्ञ परमात्मा वर्तमानमें भी विदेहक्षेत्रमें साक्षात् विराजमान हैं, एक-दो या दस-वीस नहीं अपितु लाखों सर्वज्ञ-अरिहन्त भगवन्त वहां विराजमान हैं; वहां वाह्यमें गृहीतमिथ्यात्वकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती, जैनके अतिरिक्त अन्य मतके मंदिर नहीं होते; जीवोंके अन्तरंग अभिप्रायमें विपरीतता हो यह दूसरी बात है, परन्तु वाह्यमें प्रगटरूपसे जैनमार्गसे विपरीत कोई मार्ग वहाँ नहीं चलता। यहां भरतक्षेत्रमें तो वर्तमानमें सर्वज्ञका विरह, मुनिवरोंके दर्शनकी भी दुर्लभता, धर्मके विराधक जीवोंकी बहुलता और आराधक जीवोंकी अत्यन्त विरलता, तदुपरांत धर्मके नाम पर अनेक विपरीतता चल रही है. जैसे जलमें आग लगे वैसे वीतराग-जैनधर्मके नाम पर देव-गुरु-शास्त्रमें भी बहुत विपरीतता लोगोंमे चल पड़ी है। उसमेंसे असत्यको भेदकर यथार्थ वीतराग मार्ग क्या है यह समझकर मुमुक्षु जीवोंको बहुत लगनसे उसका सेवन करना चाहिए, और विपरीतताका सेवन सर्वथा छोड़ देना चाहिए।— जो अपना हित चाहता हो वह ऐसा करे। अपने सच्चे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रसे ही अपनेको लाभ है।

जिसको देव-गुरु-धर्मके स्वरूपमें भूल हो, अथवा बन्ध-मोक्षके कारणमें भूल हो, उसकी तो मूलभूत भूल है, सर्वज्ञदशा,

मुनिदशा इत्यादि उत्कृष्टदशा प्रगट होनेपर कितनी शुद्धता होती है, कितना आस्रव-बन्ध छूटता है और उसके निमित्तसे बाह्य दशा कैसी होती है, उसको जो नहीं पहचानते और विपरीत मानते हैं उसे गृहीतमिथ्यात्व है। केवलज्ञान होनेपर शरीर भी दिव्य हो जाता है, और वहाँ ऐसी असाताका उदय नहीं रहता कि क्षुधा लगे या रोग हो जाय। मुनिदशाकी पवित्र भूमिकामें ऐसा तीव्र कषाय नहीं रहता कि दो वार खाना पड़े या वस्त्र पहनना पड़े। धर्मके जिज्ञासुको धर्मकी प्रत्येक भूमिकाका यथार्थस्वरूप शास्त्रअनुसार समझना चाहिए; क्योंकि हितके कारणरूप ऐसे मूलभूत तत्त्वोंमें जिसकी भूल हो वह अपना हित नहीं साध सकते।

अरिहन्तदशामें कवलका आहार माननेसे, या साधुदशामें वस्त्र माननेसे नवतत्त्वमें भूल होती है। क्योंकि—उस पवित्र वीतरागदशामें ऐसे आस्रव-बंध नहीं होते तो भी उसने माना, उस दशामें जो संवर-निर्जरा होता है उसको उसने नहीं जाना; मोक्ष होनेके लिये कितने प्रमाणमें संवर-निर्जरा होता है, तथा कितने प्रमाणमें आस्रव-बंध छूट जाता है, उसको न पहचानकर उससे कममें मोक्ष मान लिया, अतः उसमें भी भूल हुई, मोक्षके सच्चे कारणको उसने न पहचाना। जीवके साथ अजीवके संबंधकी कितनी मर्यादा है, और जीवकी शुद्धपर्यायमें कषायका अभाव होनेपर अजीवके साथ कितना सम्बन्ध छूट जाता है—वह भी उसने न जाना, अतः

अजीवके ज्ञानमें भी भूल हुई; जैसे कि, वीतरागजीवको अजीवके साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं होता कि वस्त्र या भोजन हो। इसप्रकार जिसके मूल तत्त्वमें विपरीत मान्यता है उसके सभी तत्त्वमें भूल हो जाती है। अतएव सर्वज्ञ-वीतरागदेवकी परंपरासे रचित समयसारादि सत्य शास्त्रके अनुसार यथार्थ तत्त्वका निर्णय करके अज्ञानको मिटाना चाहिए।

इसप्रकार गृहीत मिथ्यादर्शन और गृहीत मिथ्याज्ञानका स्वरूप कहकर उसके त्यागका उपदेश दिया। अब गृहीत मिथ्याचारित्र क्या है यह दिखाकर उसके भी त्यागका उपदेश करते हैं।

'ते गुरु मेरे मन बसो...'

गृहीत मिथ्याचारित्रका स्वरूप और उसके त्यागका उपदेश

जीवको मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र दुःखका कारण है, अतः उसके त्यागका उपदेश चल रहा है—

[गाथा · १४]

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह धरि करन विविधविध देहदाह।
आतम अनात्मके ज्ञानहीन जे जे करनी तन करन छीन ॥१४॥

जिनमें आत्मा अनात्माका भेदज्ञान नहीं है, जिनमें ख्याति-लाभ-पूजादिकी चाहना है, जो विविध प्रकारके देहदाहरूप है—शरीरको कष्ट अथवा पीड़ा करनेरूप या क्षीण करनेरूप हैं, अज्ञानीकी ऐसी सब क्रियाएँ मिथ्याचारित्र हैं,-ऐसा पहचानकर उसका त्याग करो, और आत्महितके पंथमें लागो।

अन्य मतमें जो मिथ्याक्रियाएँ होती हैं उनकी यह बात है। (अज्ञानीने द्रव्यलिंगी जैनसाधु होकर जो पंचमहाव्रतादि शुभक्रिया की—वह तो अगृहीत मिथ्याचारित्रमें समाविष्ट हुई,) यहां गृहीतकी बात चल रही है। सच्चे देव-गुरुकी जिसको पहचान नहीं है और जो कुधर्मका सेवन करता है उसकी क्रियाओंमें ख्याति-प्रसिद्धिकी भावना रहती ही है; क्योंकि अन्दरमें चैतन्यकी प्रसिद्धि तो हुई नहीं अतः किसी

न किसी प्रकारसे वाह्यमें प्रसिद्धि चाहता है। धर्मात्मा तो जानते हैं कि हमारा काम हमारे अन्तरमें हो ही रहा है, तब फिर जगतमें प्रसिद्धिका काम ही क्या है? हमारे अनुभवको जगतके लोग जाने या मत जाने, उससे हमारे अन्तरके अनुभवका कोई सम्बन्ध नहीं है।

और भी, अज्ञानीको अन्तरमें कषायोंको क्षीण करनेका तो आता नहीं अतः वाह्यमें देहकी क्षीणताको अथवा देहके कष्टको वह चारित्र समझता है। देहकी क्रिया तो अजीव है, और चारित्र तो जीवकी क्रिया है—ऐसे जीव-अजीवकी भिन्नताका जिसको भान नहीं है उसको कभी सच्चा चारित्र नहीं होता; वह भले ही देहको सुखा दे तो भी धर्मका किंचित् लाभ नहीं होगा। अज्ञानी कुदेवादिको मानता हुआ कदाचित् रागकी थोड़ीसी मंदता करके शुभभाव करे, उसमें देहकी भले कृशता हो परन्तु कषायकी कृशता नहीं होती, कषायोंकी तो गृहीत मिथ्यात्वके कारणसे पुष्टि होती है। कषायोंसे भिन्न शांतस्वरूप आत्माको जाने विना कषायें क्षीण नहीं होती। —उसके तप सो कुतप हैं, उसकी क्रियायें गृहीत मिथ्याचारित्र हैं;— ऐसा जानकर अपनेमें यदि ऐसा भाव हो तो उसे छोड़ देना चाहिए।

भेदज्ञानके विना चारित्र नहीं होता। स्व-परका भेदज्ञान करके उसकी तीव्र भावना पूर्वक स्वमें स्थिर होनेसे चारित्र होता है। नियमसार गाथा ८२ में कहते हैं कि—जीव और

कर्मकी भिन्नता जानकर, उसके भेदके अभ्याससे जीवको मध्यस्थता होती है और इससे उसको चारित्र होता है। गाथा १०६में भी कहते हैं कि जो जीव सदैव जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है वही पच्चक्खाणको धारण करनेमें समर्थ होता है। इसप्रकार भेदज्ञानका अभ्यास ही चारित्रका मूल है।

ज्ञान-आनन्दस्वरूप सो आत्मा, और शरीर तथा रागादि अनात्मा, उनकी भिन्नताको जो नहीं पहचानता उसको आत्माकी प्रसिद्धि (प्रगट स्वानुभूति) तो होती नहीं, और लौकिक प्रसिद्धिके लिये वह तप वगैरह करता है; (देहको क्षीण कर डालु तो मेरा कल्याण हो जायगा—ऐसा वह देहकी एकत्व-बुद्धिसे मानता है और इसलिये देहको पीड़ा उपजानेको अनेक प्रकारकी मिथ्या क्रिया वह करता है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि आत्मामेंसे कषाय कैसे छूटे? अत: उसकी सब क्रिया अज्ञानसे भरी हैं, वे आत्माको लाभ करनेवाली नहीं हैं, उनको तो 'मोक्षकी कातरनी' कही है; उन क्रियाओंमें आत्माकी शांति नहीं है परन्तु देहकी दाह है, भीतरमें कषायकी दाह है और बाह्यमें देहको दाह है। भाई! चैतन्यकी शांतिका अनुभव विना कषाय-अग्निका दाह कैसे मिटेगा? जिसको अपने अन्तरमें अकषायी शांतिका वेदन नहीं उसके अन्दरमें कषायकी आकुलता ही भरी है।)

जिससे आत्माकी वीतरागता पुष्ट हो, आनन्दकी वृद्धि हो और कषायें क्षीण हो उसको चारित्र कहते हैं; यह चारित्र

आत्माकी दशामें रहता है, देहकी क्रियामें या दिगम्बर शरीरमें आत्माका चारित्र नहीं रहता। हाँ, मुनिपनारूप चारित्रदशाके समय यद्यपि शरीर दिगम्बर ही रहता है, परन्तु चारित्र कहीं उस शरीरमें नहीं रहता, चारित्र तो आत्मामें ही रहता है। आत्मस्वरूपमें चरना .एकाग्र रहना सो चारित्र है; परन्तु देहसे भिन्न आत्माका जिसको ज्ञान नहीं है, कौनसी क्रिया देहकी और कौनसी क्रिया आत्माकी. इसका जिसको विवेक नहीं है, उसको चारित्र कैसा? देहसे भिन्न आत्माको जाना ही नहीं तब वह चरेगा किसमें?—एकाग्र होगा किसमें? (कदाचित् वह शुभराग करे परन्तु वह तो धर्म नहीं है, चारित्र नहीं है; धर्म और चारित्र तो देहसे भिन्न अपने चैतन्यकी श्रद्धा करके उसमें स्थित रहना—यह है। ऐसा चारित्र मोक्षका कारण है। उसके बिना जीव चाहे जितना कायक्लेश करे तो भी आत्माकी पुष्टि उसमें नहीं है; देहकी क्षीणता होना सो मेरी क्रिया है —ऐसी मिथ्या जड़बुद्धिसे तो आत्माके गुणकी दशा क्षीण होती है, कषायें क्षीण नहीं होती। देहकी क्षीणतासे आत्माको क्या लाभ?

शुद्धआत्मामें चैतन्यका प्रतपन (विशेष शुद्धता) सो तप है। शुभरागका विकल्प जिससे बाह्य है –अनात्मा है, ऐसे आत्मस्वरूपके भान बिना तप कैसा? तपमें तो अन्तरके शांत अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव है। अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादमें लीनता होनेपर आहारादिकी वृत्ति हो न हो उसका नाम

उपवास–तप है। ऐसी शुद्धताके अनुभवके विना अकेला रागरूप बाह्यतप करके अज्ञानी नववें ग्रैवेयक तक जा चुका; उस समय उसको गृहीत मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्रका तो त्याग था, क्योंकि उसके त्यागके विना ग्रैवेयकमें नहीं जा सकते। जो वस्त्र सहित साधुदशा मानता हो उसके तो गृहीत मिथ्याचारित्र है, वह तो ग्रैवेयकमें नहीं जा सकता, अनेक प्रकारके गृहीत-मिथ्यात्वादिको छोड़कर, दिगम्बर साधु होकर, पंचमहाव्रतादिका पालन कर नववें ग्रैवेयक तक गया तो भी आत्माके अनुभवके विना जीवका संसार-भ्रमण न मिटा और मोक्षमार्ग न हुआ; क्योंकि उसने अगृहीत-मिथ्यात्वादिका त्याग न किया और शुभरागके वेदनको चारित्र समझकर उसीके वेदनमें रुका रहा, रागसे भिन्न आत्माका वेदन उसने न किया।

सम्यग्ज्ञान सहित वीतरागतामें ही सच्चा 'ज्ञान-तप' (चैतन्य-प्रतपन) है; इसके विना देहबुद्धिपूर्वक जो कुछ किया जाय वह सब 'बालतप' (अज्ञान तप) है, उससे धर्मका कोई लाभ नहीं, परन्तु उसको धर्म माननेमें मिथ्यात्वरूप बड़ा नुकशान है। अहा! चारित्रदशा तो जगतपूज्य, महान आनन्द-रूप है, उसमें क्लेश कैसा? (मोक्षमार्गका चारित्र कैसा होता है–उसकी भी बहुत लोगोंको खबर नहीं है; इस समयमें तो ऐसे चारित्रवंत साधुके दर्शन भी दुर्लभ हैं। चारित्र तो उत्तम संवर–निर्जरा है; चारित्रके धारी मुनिराज तो सिद्धप्रभुके पड़ोशी हैं।)

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, चारित्र उसका वीतरागभाव है, पुण्य-पाप आस्रव है, देहकी चेष्टायें जड़ हैं,—ऐसे तत्त्वोंकी भिन्नताके भानके बिना सच्चा चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शनसे रहित सब प्रवृत्ति मिथ्या चारित्र है। सम्यक् चारित्र तो वीतरागभावरूप धर्म है। चारित्रके वीतरागी आनन्दके पास पुण्यको भी धर्मी जीव हेयरूप समझते हैं। (जो प्रगटरूपसे विषयोंकी भावनासहित तपश्चरणादि करते हैं उनको तो पापका पोषण है, परन्तु शुभरागसे तपश्चरणादि करे तो भी कहते हैं कि—यदि आत्माका ज्ञान नहीं है तो अन्तरमें कहीं मानादिककी वृत्ति विद्यमान ही है। जो नव ग्रैवेयकमें जाते हैं उनके माने हुए देव-गुरु तो सच्चे हैं, और ये भी मायाचारके बिना उनको मानते हैं, परन्तु अनुभवरूप भेदज्ञानके बिना अन्तरंग अभिप्रायमें रागकी चाहना रह जाती है, सूक्ष्म रागके वेदनमें उनको धर्मबुद्धि रहती है, अतः रागसे भिन्न होकर स्वभावका अनुभव नहीं करते। और, जो रागको धर्म माने वे रागके फलकी भी इच्छा कैसे छोड़े?—नहीं छोड़ते।—अतः श्री कुन्दकुन्दस्वामी समयसारमें कहते हैं कि वे अज्ञानी जीव सम्यक्त्वादि मोक्षहेतु धर्मको नहीं जानते और भोगहेतु धर्मका (अर्थात् पुण्यका) सेवन करते हैं;—ऐसे जीव भी संसारमें ही रुलते हैं; तब फिर जो मिथ्यात्वपोषक कुदेव-कुगुरु-कुधर्मका सेवन करते हैं वे तो गृहीत मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्रसे संसारमें बहुत त्रास पाते हैं, तीव्र दुःख सहते हैं। अतः हे जीव!

ऐसे मिथ्याभावोंको तू छोड़।

(जिसको सम्यग्दर्शन और भेदज्ञान नहीं है उसको यह नहीं मालूम कि आत्मा अपने अन्तरमें कैसे प्रसिद्ध होता है? अतः उसको बाह्य प्रसिद्धिकी भावना रहती है। धर्मीको तो अपने सम्यग्दर्शनमें अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादसहित भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुआ है, यही सच्ची प्रसिद्धि है, उसीको 'आत्मप्रसिद्धि' कहते हैं। जगतमें प्रसिद्धि हो तो भी उसमें आत्माको क्या लाभ? जिसने अपने अन्तरमें अपने आत्माकी प्रसिद्धि (अनुभूति) नहीं की, और बाह्यमें बहुत प्रसिद्धि हो गई तो उसमें उसको क्या लाभ हुआ?–कुछ भी नहीं। और जिसने स्वानुभूतिके द्वारा अपने अन्तरमें अपने आत्माको प्रसिद्ध किया, तो फिर उसको जगतमें दूसरोंसे प्रसिद्धि लेनेका क्या काम रहा? ज्ञानीकी अन्तरंग अनुभूतिकी महिमा कोई अद्भुत है! अन्तरकी स्वानुभूतिमें उसको भगवान परमात्मा प्रसिद्ध हो चुका है; बाह्य प्रसिद्धिसे उसको कोई प्रयोजन नहीं है।) यहां तो कहते हैं कि जिसको आत्माकी प्रसिद्धि करनेका नहीं आता, और जिसकी आत्मा मोहसे ढंकी हुई है, तथा जिसको सच्चे देव-गुरु-धर्मका भी निर्णय नहीं है, वह जो कुछ मिथ्या आचरण करता है वह सब गृहीत मिथ्याचारित्र है, उसको दुःखका कारण जानकर त्याग करो, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके द्वारा आत्माको प्रसिद्ध करो।–यही बात अन्तिम गाथामें कहते हैं।

★

हे जीव ! मिथ्यात्वादिको छोड़कर अब आतमके हितपंथ लाग

हे भाई ! दीर्घकाल तक मिथ्याभावोंके सेवनसे तुम दुःखी हुए, परन्तु अब दुःखसे छूटनेके लिये आत्महितका जो मार्ग सन्तोंने दिखलाया उसको अंगीकार करके, सब तरहसे मिथ्याभावोंका सेवन छोड़ दो और आत्माको सुखके पंथमें लगाओ ।

[गाथा : १५]

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हितपंथ लाग ।
जगजाल-भ्रमणको देहु त्याग, अब दौलत निज आतम सुपाग ॥१५॥

जीवको चार गतिके सर्व दुःखोंका कारण मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र है-यह दिखाकर श्रीगुरु महाराज कहते हैं कि हे जीव ! ऐसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रको तुम छोड़ दो, और सम्यग्दर्शनादि प्रगट करके आत्महितके पथमें लग जाओ। अनादिसे मिथ्यात्वादि भावोंके सेवनसे तुम दुःखी हुए, अब तो आत्माके हितका उपाय करो !-'अब आतमके हितपंथ लाग।' इस जगतके मोहजालमें रुलना छोड़कर चैतन्य-दौलतसे भरे हुऐ निजात्मामें लीन होओ। कवि अपनेको भी संबोधन करके कहते हैं कि हे दौलत ! अब तू अपनी

आत्माकी आराधनामें लीन हो और संसारके मोहजालको छोड़!

अहा, जीवोंको हितपथमें लगानेके लिये सन्तोंने बड़े अनुग्रहसे उपदेश दिया है। मिथ्यात्वादि भाव ही संसारकी जाल हैं, इसमें फसकर जीव चार गतिमें रुलता है और दुःखी होता है। उसको दुःखसे छुड़ाकर सुखका अनुभव करानेके लिये श्रीगुरुने यह वीतरागविज्ञानका उपदेश दिया है।

'तातैं दुःखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणाधार'

'ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपना कल्यान।'

हे भाई! तुम्हारे कल्याणके लिये इस उपदेशको तुम अंगीकार करो। आत्महितके अभिलाषी मुमुक्षु जीवों गृहीत-अगृहीत सभी मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रको छोड़कर और शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको अंगीकार करके आत्मकल्याणके मार्गमें लागो, पराश्रयभावरूप इस संसारमें भटकना छोड़ो, मिथ्यात्वादि भावोंका सेवन छोड़ो और सावधान होकर आत्माको रत्नत्रयकी आराधनामें जोड़ो।

श्री कुंदकुंदस्वामी नियमसारमें कहते हैं कि-रे जीव!—

मिथ्यात्व आदि भावको चिरकाल भाया है तूने ।
सम्यक्त्व आदि भावको भाया नहीं कबही तूने ॥

अरे जीव! अब ऐसे मिथ्यात्वादि दुःखदायी भावोंको छोड़ दे और आत्माके कल्याणके मार्गमें लग जा। मैं देहसे व रागसे भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप हूं-ऐसा श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करके आत्महितको साध ले। भाई! ऐसा मनुष्यजीवन पाकर तूने आत्माको प्राप्त किया कि नहीं? तेरी आत्माको जानकर उसका उदय किया कि नहीं?-कि परकीय चिन्तामें ही जीवनको खो दिया? अरे, अबतक तो आत्माको भूलकर मिथ्याभावोंके सेवनसे जीवने स्वयं अपना अहित किया; और उसमें भी कुदेव-कुगुरु-कुधर्मके सेवनसे आत्माका अत्यंत अहित हुआ और वह दुःखी हुआ, अतः हे जीव! अब तो तू सच्चे देव-गुरु-धर्मको पहचानकर सम्यक्त्वादि भाव प्रगट कर। ऐसा करनेसे तेरा परम हित होगा।

जगतके बहुत जीव तो भगवानके कहे हुए वीतराग-विज्ञानको पहचानते ही नहीं, और मूढ़तापूर्वक ऐसा समझते हैं कि हम तत्त्वज्ञानको जानते हैं, वे जीव कुगुरुओंके निमित्तसे विपरीत विचारमें ही अपनी ज्ञानशक्तिको गमा कर मिथ्यात्वकी पुष्टि करते हैं; ऐसे जीवोंको तो सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्तिका अवकाश ही नहीं है।

अब कोई जीव कदाचित थोड़ीसी विवेकबुद्धि प्रगट करे और कुदेव-कुगुरु-कुधर्मका सेवन छोड़कर सच्चे देव-गुरु-धर्मके पासमें आवे, तो वहां भी वे देव-गुरु शुद्धात्माके अनुभवका जो निश्चय उपदेश देते हैं उसको तो वह अंगीकार नहीं करता, और मात्र व्यवहारश्रद्धा करके, परमार्थसे अतत्त्वश्रद्धानी ही बना रहता है; उसको यद्यपि मिथ्यात्वादिकी मंदता हुई है इस अपेक्षासे दुःख भी मन्द है, परन्तु सम्यग्दर्शनसे आत्मिक आनंदका अनुभव हुए बिना दुःखका कभी अभाव नहीं होता; मंद-तीव्र हुआ करता है परंतु अभाव नहीं होता; अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रके सिवाय अन्य जो कोई उपाय जीव करता है वे सब जूठे हैं। तो सच्चा उपाय क्या है?—कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् वीतराग विज्ञान।

जीवको प्रत्यक्षरूपसे अनेक दुःखोंका जो वेदन हो रहा है, यदि अपना वह दुःख भी उसको न भासे तो दूसरा उसको कैसे दिखायेगा? अपना परिणाम देखनेका धैर्य और विशुद्धता होना चाहिए। भाई! तुम धीरा होकर अपने अन्तरमें विचार करो कि शास्त्रमें जो दुःखका वर्णन किया है वैसा दुःख तुम्हारेमें है कि नहीं? तुम अपने दुःखोंको और दुःखके कारणोंको जानो; और उनसे छूटनेके लिये इस मनुष्य-जीवनको धर्म साधनमें लगाओ, तभी तुम्हें मोक्षसुख होगा। मोक्षसुखकी साधना मनुष्यपनेमें ही हो सकती है। तुम मोक्षसाधन न करके यदि विषय-कषायोंमें ही मनुष्यजन्म खो-

देंगे तो पछताओगे।

श्रीगुरु महाराज करुणासे वारबार समझाते हैं परन्तु जीव सम्यक् परिणमन नहीं करता, अपने हितके लिये अन्तरमें गहरा विचार भी नहीं करता। अरे भाई! निजहित कैसे हो-उसका तुम विचार तो करो! (मोक्षमार्ग-प्रकाशकमें पं. श्री टोडरमल्लजी कहते हैं कि भला होना योग्य होनेतें जीवको ऐसा विचार आता है कि मैं कौन हूं? कहांसे आकर मैंने यहां जन्म धारण किया है? देह छोड़कर मै कहाँ जाऊँगा? मेरा स्वरूप क्या है? यह चरित्र कैसा बन रहा है? मुझे जो ये भाव होते हैं उनका क्या फल आयेगा? तथा इस जीवको जो दु.ख हो रहा है उसको दूर करनेका उपाय क्या है? इतनी वातोंका निर्णय करके जैसे अपना हित हो वैसा ही करना।—ऐसे विचारपूर्वक यह जीव उद्यमवत होता है;) अति प्रीतिपूर्वक श्रवण करके श्रीगुरुके कहे हुए वस्तुस्वरूपका अपने अन्तरमें वारम्वार विचार करता है, और सत्यस्वरूपका निश्चय करके उसमें उद्यमी होता है। इसप्रकार आत्माका हित करनेका जिसको वहुत उत्साह है ऐसा वह जीव वीतरागविज्ञान प्रगट करके अपना कल्याण साधता है।

जिज्ञासु जीवोंके कल्याणके लिये वीतराग विज्ञानका यह उपदेश है। इसमें दुःखके कारणरूप मिथ्यात्वादिका स्वरूप दिखाकर उसका निषेध किया है; उसमें ऐसा प्रयोजन है कि मिथ्यात्वके प्रकारोंको पहचानकर अपनेमें ऐसा कोई दोष हो

तो उसे दूर कर सम्यक्श्रद्धा प्रगट करना, परन्तु कोई अन्यके ऐसे दोष देखकर कषाय नहीं करना; क्योंकि जीवका अपना भला-बुरा अपने ही परिणामोंसे होता है। अपने हितके लिये, सर्व प्रकारके मिथ्याभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है। मिथ्यात्व संसारका मूलकारण है; राग द्वेष शुभाशुभपरिणाम वे भी दुःख हैं, वे भी संसारका कारण हैं। ऐसे मिथ्यात्व और राग-द्वेषको दुःखरूप जानकर हे जीवो! अब तो उनका सेवन छोड़ो...और आत्माका सच्चा श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें लीनताका उद्यम करो।

चैतन्य दौलतवाले हे दौलतराम! हे आतमराम! अपने अनन्तगुणनिधानकी दौलतको तुम सम्हालो। सोने-चांदीकी दौलत तो जड़ है, तुमसे जुदी है, तुम्हारा आत्मा केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप दौलतसे भरा है; उसको पहचानकर तुम्हारे निज-निधानको संभालो।-इसप्रकार ग्रंथकार कवि दौलतरामजी अपने आपको भी संबोधन करते हैं और दूसरोंको भी ऐसा उपदेश देते हैं। हे भाई! तुममें तो केवलज्ञान और सिद्धपद होनेकी ताकत है, परन्तु अपनेको भूलकर तुम भवमें भटके। अतः अब दूसरी सब चिन्ता छोड़कर, जगतकी जाल तोड़कर तुम आत्महितके उद्यममें लागो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको प्रगट करो। उस मोक्षमार्गका वर्णन अब तीसरी ढालमें करेंगे।

अहो, वीतरागी सन्तों करुणापूर्वक कहते हैं कि हे भाई! अब तुम आत्माके हितपंथमें लग जाओ (अब आतमके

हितपंथ लाग); तुम्हारा बहुत काल दुःखमें चला गया, अब तो सावधान होकर आत्माका हित करो। हित करनेका यह अवसर है। ऐसा उत्तम अवसर मत चूकना। राग दुःखदायक होने पर भी उसको सुखदायक मान लिया, और सम्यग्दर्शन-पूर्वका वीतरागी चारित्रधर्म आनंददायक होनेपर भी उसको दुःखदायक माना, इसप्रकार बंध-मोक्षके कारणमें भूल की, और विपरीत तत्त्वश्रद्धा की; तत्त्वकी ऐसी भूलरूप मिथ्यात्वको छोड़कर, यथार्थ तत्त्व पहचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करके अंतरमें मोक्षमार्गमें लग जाओ। हे आत्मन्! ऐसे अपने हितके लिये तुम शीघ्र सावधान हो जाओ।

सच्चे जैन वीतरागमार्गके सिवाय किसी भी दूसरे मार्गको मानना सो तो गृहीत-मिथ्यात्व है, उसमें तीव्र विपरीतता है; और जैनसंप्रदायमें आ करके भी यदि अपने अंतरमें सर्वज्ञ-देव कथित नवतत्त्वका सच्चा निर्णय व आत्मअनुभव न किया तो अनादिका मिथ्यात्व छूटता नहीं, इसलिये छहढालाके इस अधिकारमें तत्त्वश्रद्धानमें जीवकी भूल दिखाकर उसके त्यागका उपदेश दिया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आनन्ददायक है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र दुःखदायक है, इन दोनोंको अच्छी तरह पहचानकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका ग्रहण करो, और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रका त्याग करो। अरे! अरिहन्त-देवके जैनमार्गमें आकरके भी यदि तुमने तत्त्वका सच्चा निर्णय करके आत्मअनुभव न किया तो तुम्हारा कल्याण कैसे होगा?

ज्ञानी करुणासे उपदेश करते हैं कि हे वत्स! हे भव्य! यहाँ संसारदशामें जो दुःख दिखाया तथा उसके कारणरूप मिथ्यात्वादि भाव दिखाया, उसका अनुभव तुमको होता है या नहीं? तुम जो उपाय अवतक करते थे उसको जूठा कहा—वह भी ऐसा ही है कि नहीं? तथा सम्यग्दर्शनादिसे सिद्ध अवस्था प्रगट होनेपर परम सुख होता है यह बात ठीक है कि नहीं? इन सबका तुम स्वयं विचार करो; और यदि ऊपर कहे अनुसार ही तुमको प्रतीति उपजे तो संसारसे छूटकर सिद्धपदका सुख पानेका हम जो उपाय कहते हैं उसको तुम अंगीकार करो! विलम्ब न करो। ऐसा उपाय करनेसे तुम्हारा कल्याण ही होगा।

मिथ्यात्वादिक सेवते हुआ जीवको दुःख,
सो त्यागी सम्यक् भजो होगा सच्चा सुख।
ऐसा सम्यक् सेईये जगतमें जो सार;
वीतराग-विज्ञानसे हो जाओ भवपार ॥

इसप्रकार प. श्री दौलतरामजी रचित छहढालामे, दु:खके कारणरूप मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्रका वर्णन करके उसको छोडनेका उपदेश देनेवाले दूसरे अध्याय पर पू. श्री कानजीस्वामीके प्रवचन पूर्ण हुए।

अब आप पढ़ेंगे...वीतराग विज्ञान-प्रश्नोत्तर

वीतरागविज्ञान-प्रश्नोत्तर

वीतराग विज्ञानकी पहली पुस्तकमे छहढालाके प्रथम अध्यायके प्रवचनमेसे दोहन करके २०० प्रश्न-उत्तर दिये गये थे, सक्षिप्त भाषामे सुगमशैलीके ये प्रश्न-उत्तर सभी जिज्ञासुओको पसन्द आये है और छहढालाके अभ्यासमे विशेष उपयोगी हुए है। उसी प्रकार यह दूसरी पुस्तकमे भी दूसरे अध्यायके दोहनरूप २४० प्रश्न-उत्तर यहा दिये जाते हैं।

२०१. जीवको क्या इष्ट है ?

दुःखसे छूटना और सुखी होना इष्ट है।

२०२. जीवके दुःखका कारण क्या है ?

मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र ही दुःखका कारण है।

२०३. ससारमें किस गतिमें दुःख है ?

संसारमें चारों ही गतिमें दुःख है।

२०४. क्या यह सच है कि नरकमें छेदन-भेदन शीत-उष्णताका दुःख है ?

नहीं; यह बात संयोगकी है, वास्तवमें जीवके मिथ्यात्वादि भावोंका ही दुःख है। संयोगी भाव

२०५. कौनसी वस्तु इस जगतमें सर्वोत्कृष्ट है ?

इस जगतमें वीतरागविज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट है।

२०६. जीव वीतरागविज्ञान न करे तो क्या होगा ?

तो जीव दुःखी होगा।

२०७. जीवको दुःख देनेवाला बड़ा शत्रु कौन है ?

मिथ्यात्व ही जीवको महादुःख देनेवाला शत्रु है।

२०८. उससे बचनेके लिये ढाल कौन-सी ?

वीतरागविज्ञान ही मिथ्यात्व शत्रुसे बचनेकी मजबूत ढाल है।

२०९. दुःखसे बचनेके लिये क्या करना चाहिए ?

उसके कारणरूप मिथ्यात्व आदिको पहचानकर उसका सेवन छोड़ना।

२१०. निगोदसे लेकर नववें ग्रैवेयक तक अज्ञानी जीवने क्या किया ?

चारों गतिके अवतारमें दुःख ही भोगे।

२११. जीव नरकमें तो दुःखी हुआ,-किन्तु स्वर्गमें ?

-वहाँ पर भी जीव अज्ञानवश दुःखी ही हुआ ?

२१२. सुख कहां है ?

जहाँ जहाँ सम्यक्त्वादि है वहीं पर सुख है।

२१३. दुःख कहां है ?

जहाँ जहाँ मिथ्यात्वादि है वहाँ दुःख ही है।

२१४. नरकमें दुःखका क्या कारण है ?

वहाँ पर जीवके मिथ्यात्वादि भाव ही दुःखका कारण हैं।

२१५. स्वर्गमें दुःखका कारण क्या है ?

वहाँ पर जीवके मिथ्यात्वादिभाव ही दुःखके कारण हैं।

२१६. जीव निगोदमें क्यों रहता है ?

अपने भावकलंककी अत्यन्त प्रचुरताके कारण।

२१७. क्या जड़कर्म जीवको दुःख देते हैं ?

नहीं; वे तो दुःखमें मात्र निमित्त हैं, वास्तविक दुःख तो जीवके स्वयं विपरीत भावके कारणसे है। कर्म तो जड़ हैं, जीवसे भिन्न हैं, इसप्रकार भिन्न वस्तु सुख-दुःख नहीं देती।

२१८. कर्म कैसे बंधता है ?

जीवके विपरीत मान्यताके कारण (भावके अनुसार)

२१९. कर्म और संसारभ्रमण कैसे छूटे ?

यदि जीव स्वयंके विपरीतभावको छोड़कर सम्यक्त्वादि करे तो कर्म छूट जायेंगे और संसारभ्रमण मिटेगा।

२२० आचार्य भगवान कैसा उपदेश देते हैं ?

वे बारंबार कहते हैं कि रे जीव ! मिथ्यात्वके वशमें होकर तूने बहुत दुःख भोगे, इसलिये अब तो तेरी आत्माको पहिचानकर उस मिथ्यात्वादिको छोड़. .छोड़!

२२१. संसारमें रुलते हुए जीवने कभी दया पाली होगी ?
हाँ, दयाका शुभभाव तूने अनंतबार किया।

२२२. दया करनेसे क्या हुआ ?
पुण्यके कारण वह स्वर्गमें गया, परंतु वहाँ पर भी अज्ञानताके कारण दुःखी हुआ।

२२३. संसारमें रुलते हुए जीवने अब तक क्या न किया ?
शुभ और अशुभ दोनोंसे पार आत्माका स्वरूप नहीं जाना।

२२४. मिथ्यात्व किसको कहते हैं ?
आत्माको भूलकर, शरीर और रागमें एकत्वबुद्धि करना उसको मिथ्यात्व कहते हैं।

२२५ ऐसे मिथ्यात्वका स्वरूप समझकर क्या करना ?
मिथ्यात्वको छोड़ना और सम्यक्त्व ग्रहण करना।

२२६ संयोग दुःखका कारण हैं कि संयोगी बुद्धि ?
संयोगी बुद्धि दुःखका कारण है संयोग नहीं।

२२७ जीवने इन चार गतियोंमें सबसे कमभव किसमें किये ?
मनुष्यगतिमें।

२२८. मनुष्यगतिमें कितने भव धारण किये ?
अनंत।

२२९. क्या कभी इस जीवने देवपद भी प्राप्त किया ?
हाँ, अनंतबार स्वर्गका देव हुआ।

२३० इस जीवने पूर्वमें क्या प्राप्त नहीं किया ?

सिद्धपद ।

२३१. संसारका सारा जीवन जीवने कहां व्यतीत किया ?

एकेन्द्रिय रूपमें महादुःखमें ।

२३२. एकेन्द्रिय रूपमें महादुःख क्यों है ?

मोहकी तीव्रता और चेतनाकी अत्यंत हीनताके कारण ।

२३३. अब इस मनुष्य अवसरमें क्या करना ?

मिथ्याभावोंको छोड़कर सम्यक्त्वको भजना ।

२३४. राग-अशुभ हो कि शुभ वे दोनों कैसे हैं ?

दोनोंमें दुःख है और दोनों संसारका कारण हैं ।

२३५ शुभरागसे क्या मिलता है ? और क्या नहीं मिलता है ?

शुभरागसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, परंतु आत्मा नहीं मिलती ।

२३६. क्या शुभरागसे सम्यक्दर्शनादि कोई गुण मिलता है ?

-नहीं, राग तो दोष है, उससे गुण नहीं मिलता ।

२३७. शुभराग यह गुण है कि दोष ?

दोष ।

२३८. क्या शुभराग मोक्षसुखका कारण हो सकता है ?

नहीं; राग स्वयं दुःखरूप है, वह सुखका कारण नहीं हो सकता ।

२३९. अज्ञानी शुभरागको कैसा समझता है?
अज्ञानताके कारण वह सुख और मोक्षका कारण मानता है।

२४०. सुख क्या है?—दुःख क्या है?
वीतरागविज्ञान वह सुख और राग-द्वेष-अज्ञान यह दुःख है।

२४१. यह जानकर क्या करना?
दुःखके कारणोंसे दूर होना तथा सुखके कारणोंका सेवन करना।

२४२. संसारका मूल क्या है?
मैं ज्ञान हूँ—ऐसा भूलकर मैं राग और शरीर हूं ऐसी मिथ्यात्वबुद्धि ही संसारका मूल है।

२४३. मिथ्यात्व सहित ज्ञानका चारित्र कैसा है?
वह मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है।

२४४. आस्रव क्या है?
मिथ्यात्वादि भाव ही आस्रव हैं।

२४५. वे आस्रव भाव कैसे हैं?
वह ज्ञानसे विरुद्ध स्वभाववाले हैं।

२४६. जीव कैसा है? शरीर कैसा है?
जीव ज्ञानस्वरूप है; शरीर जड़ है।

२४७. यदि शरीरादि अजीवका काम जीव मान ले तो क्या दोष है?
तो उसने जीव और अजीवको भिन्न-भिन्न नहीं जाना।

२४८. शुभभावको धर्म माने तो क्या दोष?
तो उसने ज्ञान और आस्रवको भिन्न भिन्न नहीं जाना।

२४९. वाणी वह किसकी क्रिया है?
वाणी अजीवकी क्रिया है, जीवकी नहीं।

२५०. क्या जीवको कर्म दुःखी करते हैं? कि वह उल्टे भावसे दुःखी हैं?
जीव अपने उल्टे भावोंसे दुःखी हैं।

२५१. सुख-दुःख किसमें हैं?
जीवमें हैं, जड़में सुख-दुःख नहीं।

२५२. सुख-दुःखका कारण किसमें है?
सुख-दुःखके कारण जीवोंमें है जड़में नहीं।

२५३. आत्मा कैसा है?
आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दसे भरा हुआ भगवान है।

२५४. संवर किससे होता है?
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा संवर होता है।

२५५. जीव सुखी-दुःखी किस प्रकार होते हैं?
स्वयं अपने स्वरूपको भूलकर विपरीत भावके कारण दुःखी होते हैं, और स्वभावमें एकाग्रता होनेसे जीव

सुखी होते हैं।

२५६. अन्यको सुख–दुःखका कारण माने तो क्या होगा?
अन्य द्रव्य ऊपरसे कभी राग छूटे नहीं और दुःख मिटेगा नहीं।

२५७. क्या शरीरकी प्रतिकूलता जीवको बाधक होती है?
नहीं, सातवीं नरककी प्रतिकूलताके बीचमें भी जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त करते हैं।

२५८. फिर मिथ्यादृष्टिको कौन बाधक होते हैं?
शरीरबुद्धिका विपरीत भाव ही उसे अंतर्मुख नहीं होने देता।

२५९. क्या प्रतिकूलताओंके बीचमें भी सम्यक्‌दर्शन हो सकता है?
हाँ, अन्दरमें मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा लक्ष करे तो प्रतिकूलताके समय भी सम्यक्‌दर्शन हो सकता है।

२६०. क्या बाह्य अनुकूलता सम्यक्‌दर्शन प्राप्तिमें सहायक होती है?
नहीं; बाह्यकी सभी अनुकूलता होनेपर भी जीव स्वयं अन्तर्लक्ष नहीं करे तो सम्यक्‌दर्शन नहीं होता।

२६१. ऐसा सिद्धान्त समझकर क्या करना?
संयोगके सामने देखना छोड़कर स्वभावकी ओर दृष्टि करना?

२६२. अगृहीत मिथ्यात्वका क्या अर्थ?
आत्माके सच्चे स्वरूपको भूलकर विपरीत मानना उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

२६३. गृहीत मिथ्यात्वका क्या अर्थ?
कुदेव-कुगुरु-कुधर्मका सेवन करना। उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

२६४. जीवने कौनसा मिथ्यात्व पहले छोड़ा है?
गृहीत मिथ्यात्वको छोड़ा किन्तु अगृहीत मिथ्यात्वको नहीं छोड़ा।

२६५. अगृहीत मिथ्यात्व क्यों नहीं छूटा?
चेतनस्वरूप आत्माका अनुभव नहीं किया इसलिये।

२६६. जीवका संसार भ्रमण क्यों नहीं मिटा?
मिथ्यात्व नहीं छोड़ा और सम्यग्दर्शन नहीं प्रगट किया इसलिये।

२६७. सर्वज्ञ भगवानने कैसा आत्मा देखा है?
भगवानने देहसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा देखा है; (विनमूरति चिन्मूरति अर्थात् मूर्तपनसे रहित यह चैतन्यमूर्ति आत्मा है)

२६८. क्या मनुष्य लोकमें अभी कोई सर्वज्ञ भगवान हैं?
हाँ, सीमन्धरादि लाखों सर्वज्ञ भगवान विचरते हैं।

२६९. कौनसे तत्त्व जाननेके लिये प्रयोजनभूत हैं?

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंका ज्ञान प्रयोजनभूत है।

२७०. इन सात तत्त्वोंमेंसे कौन शत्रु और कौन मित्र हैं?
आस्रव और बन्ध शत्रु जैसे हैं तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष मित्र जैसे हैं।

२७१. इन सात तत्त्वोंमें शुद्धदृष्टिसे कौनसा तत्त्व उपादेय है?
शुद्धदृष्टिसे जीवतत्त्व ही उपादेय है।

२७२. सातत‍त्त्वोंमें सुख-दुःखका कारण कौन हैं?
आस्रव और बन्ध दुःखका कारण हैं; संवर निर्जरा सुखका कारण हैं।

२७३. धर्मात्माको कैसा अनुभव करना चाहिये?
मैं उपयोगस्वरूप जीव हूं ऐसा।

२७४. देहबुद्धि कैसे छूटे?
जब उपयोगस्वरूप आत्माका अनुभव करे तब देह-बुद्धि छूट जाती है।

२७५. क्या शरीरकी क्रिया ही संवर है?
नहीं; सम्यग्दर्शन पूर्वककी शुद्धता संवर है।

२७६. सुखका स्वाद कब आयेगा? मोक्षमार्ग कब होगा?
परको भिन्न जानकर स्वमें स्थित रहो।

२७७. क्या जानने वाला तत्त्व जड़की क्रिया करता है?
नहीं, वह यदि जड़की क्रिया करे तो जड़ हो जायेगा।

२७८. क्या आत्मा शरीररूप है?

नहीं; आत्मा सदा उपयोगस्वरूप है।

२७९. अजीवकी क्रिया किस रीतिसे होती है?

अजीवमें भी अनन्त शक्ति है उससे ही उसकी क्रिया होती है।

२८०. जगतमें चेतन द्रव्य क्या हैं और अचेतन द्रव्य क्या हैं?

जीव द्रव्य चेतन है और बाकीके पांच द्रव्य अजीव हैं।

२८१. जगतमें मूर्त द्रव्य कौनसे हैं? और अमूर्त द्रव्य कौन-से हैं?

एक पुद्गल द्रव्य मूर्त है बाकीके पांच द्रव्य अमूर्त हैं।

२८२. आत्मा कैसा है?

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी महान पदार्थ है उसीमें आनन्द है; दूसरे कोई पदार्थमें ज्ञान-आनन्द नहीं, उससे भी आत्मा अनुपम है।

२८३. इस प्रकारकी आत्माको किस प्रकार जान सकते हैं?

स्वयंके अनुभवके द्वारा आत्माको जाना जा सकता है।

२८४. जीवको आंख कौनसी है?

उपयोग ही जीवकी आंख है।

२८५. शुभक्रिया धर्मका कारण हो सकती है?

नहीं।

२८६. शुद्धस्वभावका अनुभव करनेसे क्या होता है?
आस्रव-बन्धका नाश होता है और संवर-निर्जरा-मोक्ष प्रगट होता है।

२८७. वीतराग वाणीका मूल आशय क्या है?
जीव-अजीवका भेदज्ञान करके वीतरागरूप होना।

२८८. जीवने किसका विचार नहीं किया?
अपने स्वरूपका सच्चा विचार जीवने कभी नहीं किया।

२८९. जीवकी चाल कैसी है? अजीवकी चाल कैसी है?
जीवकी चाल चेतनरूप है; अजीवकी चाल जड़रूप है।

२९०. क्या अरिहन्तका नाम लेनेसे मिथ्यात्व छूट जाते हैं?
नहीं, अरिहन्तके स्वरूपकी पहिचान करे तो मिथ्यात्व छूट जाते हैं।

२९१. अज्ञानी जीव किसमें अहंपना करता है?
शरीर और रागमें।

२९२. जीवको अहंपना किसमें करना चाहिये?
स्वयंके उपयोगस्वरूपमें। (अहंपन = एकत्वबुद्धि)

२९३. अरंहत सिद्ध आदिकी सच्ची पहचान कब होती है?
उपयोगस्वरूप आत्माकी पहचान करे तब।

२९४. क्या शरीर और खोराक (भोजन) बिना आत्मा जी सकता है? हाँ; आत्मा सदा उपयोगसहित जीता है।

२९५. आत्मा किसके बिना जी नहीं सकता?
उपयोग बिना आत्मा एक क्षण भी जी नहीं सकता।

२९६. क्या शरीर और राग बिना जीव हो सकता है?
हाँ।

२९७. क्या उपयोग बिनाका जीव हो सकता है?
नहीं।

२९८. बारम्बार घोलन करने योग्य क्या है?
भेदविज्ञान।

२९९. सच्ची सामायिक, प्रतिक्रमण, धर्म कब होते हैं?
मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यक्त्व प्रकट करे तब।

३००. क्या आत्मासे शरीरको भिन्न जाने बिना सच्चा प्रतिक्रमण हो सकता है?
नहीं।

३०१. पहला सुख क्या?
सम्यक्दर्शनका पहला सुख।

३०२. जीवका सच्चा जीवन क्या है?
वीतरागविज्ञानके द्वारा सुखका अनुभव करना।

३०३. जगतमें उत्कृष्ट विभूति कौनसी?
आत्माके सर्वज्ञपदकी विभूति जगतमें उत्कृष्ट है।

३०४. छ खण्डकी विभूतिका मोह एक क्षणमें कैसे छूटे?
चैतन्यस्वभावकी रुची करने पर।

३०५. जीवका निजघर कौनसा? और परघर कौनसा?

चैतन्यमय आनन्दधाम निजघर है, राग और शरीर परघर है।

३०६. कौनसी दो बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं?

आत्माको ज्ञानरूप जाने और फिर परको अपना माने ये दो विरुद्ध बात एक साथ नहीं हो सकती हैं।

३०७. आत्माकी शोभा किससे है?

सम्यक्त्वरूपी मुकुट और चारित्ररूपी हारके द्वारा आत्मा शोभती है। शरीरका शृंगार करनेसे आत्मा शोभती नहीं।

३०८. होशियारी किसमें है?

आत्माका अनुभव करनेमें।

३०९. बेहोशी क्या है?

आत्माका भान नहीं होना और परमें अभिमान करना बेहोशी है।

३१०. जैन परम्परामें जन्म लेनेसे उसका सच्चा लाभ कब माना जायगा?

जीव-अजीवका भेदज्ञान करके सच्चा जैन बने तब।

३११. भगवान किसको जैन नहीं मानते?

जीव-अजीवकी जिसको भिन्नताका ज्ञान नहीं है।

३१२. यदि आत्मा जड़का कर्त्ता बने तो क्या दोष?

तो आत्मा जड़ हो जायगा।

३१३. जड़का कर्त्ता कौन होता है?
जो जड़ होय वह जड़का कर्त्ता हो सकता है।

३१४. अज्ञान दशामें क्या होता है?
अपनेको आप भूलकर हैरान हो गया।

३१५. सच्चा ज्ञान होनेपर क्या होता है?
अपनेको आप जानकर आनन्दी हो गया।

३१६. जीव और शरीरके बीच कौनसा अभाव है?
अत्यन्त अभाव।

३१७. आस्रवको पहिचाननेमें अज्ञानी जीव कौनसी भूल करते हैं?
रागादि भाव दुःख देने वाले होने पर भी उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन करते हैं।

३१८. मरणका भय कब मिटेगा?
अविनाशी चैतन्य द्रव्यको स्वयंको समझे तब।

३१९. सबसे पहले क्या सीखना?
मैं जीव हूँ; शरीर वह मैं नहीं—ऐसा सीखना।

३२०. क्या खोराक विना आत्मा जी सकता है?
हाँ; यदि खाये तो मर जाय; क्योंकि जड़ खोराकको आत्मा खाये तो आत्मा जड़ हो जाय अर्थात् मर जाय।

३२१. तो आत्मा किससे जीता है?

आत्मा स्वयंके चैतन्यभावसे ही जीता है।

३२२. शरीर आवे और जावे वहाँ आत्मा क्या करता है?
शरीर आवे या जावे उसको आत्मा जानता है। परंतु स्वयं शरीर रूप नहीं होता।

३२३. देहसे भिन्न आत्मा कब दिखता है?
दोनोंको भिन्न-भिन्न लक्षणसे पहिचाने तब।

३२४. शरीरसे भिन्न आत्मा क्यों नहीं दिखाई देता?
शरीरबुद्धिका घुटन होनेके कारण।

३२५. क्या आत्मा और शरीर कभी एक हो सकते हैं?
नहीं, एकपना नहीं होता; तीनों काल दो भाव रहते हैं।

३२६. अभी आत्मा शरीर एक है कि जुदा?
जुदा, आत्मा चेतन और शरीर जड़ है।

३२७. धर्मीकी ऋद्धि कैसी है?
धर्मी जानता है कि यह बाहरकी ऋद्धि हमारी नहीं अनन्तगुण सम्पन्न चैतन्यऋद्धि ही हमारी ऋद्धि है।

३२८. क्या आत्माके अवयव होते हैं?
हाँ, आत्माके ज्ञान-दर्शन-सुख आदि अनन्त अवयव हैं।

३२९. शुभ और अशुभ दोनों भाव कैसे हैं?
दोनों अनात्म भाव हैं; दोनोंमें दुःख है।

३३०. पुण्यफलमें जो सुख मानता है उसको क्या होता है?

वह मोहकी पुष्टीके कारण संसारमें भ्रमण करता है। और दुःखी होता है।

३३१. शुभरागसे स्वर्ग तो मिलता है फिर भी उसमें दुःख?
हाँ, स्वर्ग मिलनेसे कोई आत्माको सुख नहीं मिल जाता, स्वर्गके पदार्थोंको भोगते आकुलता और दुःख ही होता है।

३३२. तो सुख किसमें है?
शुभ-अशुभसे भिन्न चैतन्यभावका वेदन करना ही सच्चा सुख है।

३३३. आत्माका निजरूप कैसा है?
निजरूप तो शरीर और राग दोनोंसे पार चेतनरूप है।

३३४. रागादि भाव कैसे हैं?
वे ज्ञान रहित हैं; आत्माका निजरूप वह नहीं।

३३५. पाप तो मोक्षका कारण नहीं;—पुण्य तो है?
पुण्य भी मोक्षका कारण नहीं बन्धका ही कारण है।

३३६. क्या रागमें आनन्द है?
नहीं, राग तो आकुलताकी भट्टी है; उसमें शांति नहीं।

३३७. चैतन्यके आनन्दकी सच्ची मिठास अज्ञानी क्यों भूल जाता है?
क्योंकि उसको पुण्यमें मिठास लगती है इसलिये।

३३८. मुमुक्षु जीवोंको किसमें लगा रहना चाहिये?

मुमुक्षु जीवोंको वीतरागविज्ञानकी प्राप्तिमें लगे रहना चाहिए पुण्य-पापमें नहीं।

३३९. वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र तरफका राग कैसा है?
पुण्यबन्धका कारण है मोक्षका नहीं।

३४०. राग सहित केवलज्ञान या मोक्ष हो सकता है?
नहीं, रागको सर्वथा छोड़कर ही केवलज्ञानादिकी प्राप्ति हो सकती है।

३४१. क्या अभीसे ही रागको छोड़ने जैसा मानना?
हाँ, यदि अभीसे रागको छोड़ने योग्य नहीं माने तो कहाँसे छोड़ेगा।

३४२. शुभरागको मोक्षका कारण माने तो क्या होगा?
मोक्ष तो नहीं होगा पर मिथ्यात्व होगा।

३४३. क्या धर्मीको शुभराग नहीं होता?
धर्मीको शुभराग होता है पर उसको मोक्षका कारण नहीं मानता।

३४४. बन्धन क्या है? मुक्ति क्या है?
उपयोगको रागके साथ जोड़ना बन्धन है; और उपयोगको आत्माके साथ जोड़ना मुक्ति है।

३४५. राग-द्वेषसे रहित किस प्रकार हो सकते हैं?
उपयोगको अन्तरके शुद्धात्मामें एकाग्र करनेसे।

३४६. सन्त कैसा हितोपदेश देते हैं?

रागका सेवन छोड़ो और अपने चैतन्य स्वरूपका सेवन करो।

३४७. अज्ञानी बड़ी भूल क्या करते हैं?

आत्माके हित करने वाले ज्ञान-वैराग्यके कारणको दुःख-दायक मानते हैं।

३४८. अज्ञानी दूसरी भूल क्या करता है?

शुभराग दुःखदायक होने पर भी उन्हें अच्छा मानकर उसका सेवन करता है।

३४९. मोक्षभाव क्या है? बन्ध भाव क्या है?

ज्ञान-वैराग्य वह मोक्ष भाव, अज्ञान और शुभ-अशुभ बन्धभाव हैं।

३५०. क्या चारित्रमें दुःख है?

नहीं; चारित्रमें महान आनन्द है और वह जगत पूज्य है।

३५१. चारित्र किसमें है?

कोई चारित्र राग और शरीरमें नहीं; चेतनमें रमण करना ही चारित्र है।

३५२. आठों कर्म विष वृक्ष हैं; तो अमृत वृक्ष कौन?

आत्मा अमृतका वृक्ष है; उसके अनुभवमें आनन्द है।

३५३. जिसको पुण्यकी रुचि है उसे किसकी रुचि है?

उसको जड़की रुचि है आत्माकी रुचि नहीं।

३५४. पुण्यके फलमें तो धर्मके निमित्त मिलते हैं?

भले मिले; परन्तु वह निमित्त तो आत्मासे जुदे हैं; उनके सन्मुख देखनेसे आत्माको किंचित् धर्मका लाभ नहीं होता।

३५५. धर्मीको किसका उत्साह है?

धर्मीको चैतन्यके अनुभवका उत्साह है; रागका नहीं।

३५६. पुण्य बाँधनेसे उसमें आत्माकी शोभा है?

जी नहीं, चैतन्यको बन्धन वह तो शरम है।

३५७. सुख रागमें होता है कि वीतरागतामें?

वीतरागतामें ही सुख होता है रागमें नहीं।

३५८. मोक्षकी श्रद्धा कब होती है?

ज्ञानस्वभावको पहिचाने तब; क्योंकि मोक्ष तो ज्ञानमय है।

३५९. जीव दुःखको चाहते नहीं, फिर भी दुःखी क्यों हैं?

क्योंकि दुःखके कारणरूप मिथ्यात्व भावोंका दिन-रात सेवन करते हैं।

३६०. जीव सुखको चाहते हैं फिर भी सुखी क्यों नहीं होते?

क्योंकि सुखके कारणरूप वीतराग विज्ञानको एक क्षण भी सेवन नहीं करते हैं।

३६१. दुःखसे छूटने और सुखी होनेके लिये क्या करना?

वीतरागविज्ञानका सेवन करना और मिथ्यात्व भावोंको छोड़ना।

३६२. शुभरागकी प्रीतिसे क्या मिलता है?
संसार।

३६३. चैतन्यपदकी प्रीतिसे क्या मिलता है?
मोक्ष।

३६४. धर्मी स्वयको सदा कैसा जानता है?
मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय हूँ—ऐसा धर्मी जानता है।

३६५. क्या गृहस्थको भी आत्माकी पहिचान हो सकती है?
—हाँ।

३६६. मुनि कैसे हैं?
चैतन्यमें लीन वीतराग भावसे महान सुखी हैं।

३६७. सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों कैसे हैं?
वे तीनों राग रहित हैं; वीतराग हैं।

३६८. अनुभवका अतीन्द्रिय आनन्द कैसा है?
रागकी तरह जो कल्पनामें नहीं आ सके ऐसा।

३६९. निराकुल सुखरूप मोक्षका कारण कैसा है?
उसका कारण भी निराकुल (रागविना) का ही होता है। राग तो आकुलता है उसको मोक्षका कारण माननेसे कारण कार्यमें विपरीतता होती है।

३७०. शुभराग व्यवहारक्रियायें जीवने पहले कभी की हैं ?
हाँ, अनंतवार, परंतु सम्यक्‌दर्शनके विना धर्म नहीं हुआ।

३७१. अनादिसे किस रीतिसे मुक्त होता है ?
वीतरागविज्ञानरूप धर्मको साधकर फिर।

३७२. आनंद होनेके लिये 'ज्ञानी' क्या कहते हैं ?
हे जीव तू आत्मामें रमण कर !-उसीमें आनन्द है।

३७३. चींटी शक्कर खाती हो तो उस समय सुखी है कि दुखी ?
दुःखी।

३७४. अज्ञानी देव स्वर्गमें अमृतका स्वाद लेते समय सुखी है कि दुखी ?
दुःखी।

३७५. जीव कब सुखी होता है ?
स्वभावकी निराकुलताका स्वाद ले तब।

३७६. सिद्ध भगवंतोंको वाह्य विषयोंके बिना भी सुख क्यों है ?
क्योंकि सुखका अनुभव आत्मामेंसे ही आता है; विषयोंमेंसे नहीं।

३७७. बाह्य पदार्थोंको भोगनेकी इच्छा कौन रखते हैं ?
जो इच्छासे दुःखी होता है वो।

३७८. मोक्षमें सिद्धभगवान क्या करते हैं ?
स्वयके आनंदको भोगते हैं और दूसरा परका कुछ नहीं करते।

३७९. संसारी जीव क्या करते हैं ?

अज्ञान और राग-द्वेष कर दुखको भोगते हैं।

३८०. क्या धर्मसे तीर्थंकर प्रकृति बन्धती है ?

नहीं; धर्मीको रागके कारण बंधती है धर्मके नहीं।

३८१ जीवको लाभ कितना ?

सम्यक्दर्शन पूर्वक जितनी वीतरागता हुई उतना।

३८२. क्या मुक्त जीव एक-दूसरेमें मिल जाते हैं ?

नहीं: हरेक जीव भिन्न अपने अपने स्वरूपमें ही रहते हैं।

३८३. ईश्वरका क्या अर्थ ? ईश्वर कितने हैं ?

जिस आत्माको पूर्ण शक्ति प्रगट हुई वो ईश्वर अनंत हैं।

३८४. क्या यह आत्मा भगवान हो सकता है ?

हाँ; सब जीव सिद्ध समान हैं, जो समझते हैं वो हो सकते हैं।

३८५. मोक्षके अतिन्द्रिय सुखको पहिचाननेसे क्या लाभ ?

अपनेमें भी अतीन्द्रिय सुखका स्वाद आता है।

३८६. क्या इन्द्रियज्ञानके द्वारा मोक्षसुखको पहचान सकते हैं ?

नहीं।

३८७. शुभरागको मोक्षका साधन बनाया जाय तो ?

उसको मोक्षकी और मोक्षके उपायकी खबर नहीं।

३८८. जीवने पहले कभी किसका सेवन नहीं किया ?

सम्यक्‌दर्शन ज्ञान और चारित्रका।

३८९. शुक्ललेश्या और शुक्लध्यानमें क्या अंतर है ?

शुक्ललेश्या अज्ञानीको भी होती है और शुक्लध्यान मुनिको ही होता है।

३९० क्या शुक्ललेश्या और कृष्णलेश्या परसे ज्ञानी-अज्ञानीका माप हो सकता है ?

नहीं, शुक्ललेश्या अज्ञानीको भी होती है और कृष्णलेश्या ज्ञानीको भी होती है।

३९१. कुदेव कुगुरु कुधर्मका सेवनसे क्या होता है ?

जीवका बहुत अहित होता है; मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है।

३९२. कुगुरु किसके समान है ?

पत्थरकी नौकाके समान; खुद तो डूबता है और उसका आश्रय करनेवाले भी डूबते हैं।

३९३. कल्याणका मूल क्या है ?

सच्चे देव गुरु शास्त्रको पहिचानकर उनका सेवन करना।

३९४. जैनधर्मका गुरुपद कैसा है ?

अहा; यह तो महान पवित्र परमेष्ठी पद है, निर्ग्रंथ है।

३९५. वे गुरु क्या करते हैं ?

शुद्धरत्नत्रयके द्वारा आत्माके आनंदका अनुभव करते हैं।

३९६. क्या कुगुरु जीवको डुबाते हैं ?
नहीं; अपने मिथ्यात्वभावसे ही जीव डुबता है।

३९७. जो रागसे धर्म मनाता है क्या वो महावीरके मार्गमें है ?
नहीं; महावीरका मार्ग तो वीतरागका मार्ग है।

३९८. वीतराग अरिहंतदेवको सच्चा नमस्कार कब होता है ?
रागका रस छोड़कर वीतरागभावका आदर करे तब।

३९९. अरिहंत परमात्माकी सच्ची स्तुति कौन कर सकता है ?
सम्यक्दृष्टि।

४००. मिथ्यादृष्टि जीव अरिहंतकी सच्ची स्तुति क्यों नहीं कर सकता ?
क्योंकि वो अरिहंतके सच्चे स्वरूपको पहचानता नहीं है।

४०१. अरिहंतका सच्चा स्वरूप कब पहिचाननेमें आता है ?
रागसे जुदा होकर, अपने स्वरूपका आश्रय ले तब।

४०२. क्या महावीर भगवान रागसे धर्म मानते थे ?
नहीं।

४०३. तो जो रागको धर्म मानता है वो महावीरको मानता है ?
नहीं।

४०४. तो महावीरको कौन मानता है ?
वीर होकर वीतरागमार्गको जो साधते हैं वे।

४०५ क्या जैन साधु वस्त्र पहनते हैं ?
नहीं।

४०६. यदि वस्त्रवाले साधुको माने तो क्या दोष ?
तो गृहीत मिथ्यात्व और कुगुरु सेवनका दोष लगेगा।

४०७. श्रेणीक राजाने नरक आयु क्यों बांधी ?
मिथ्यादृष्टि होनेके कारण निर्ग्रंथ मुनि पर उपसर्ग किया इसलिये।

४०८. श्रेणीक राजाने तीर्थंकर नामकर्म कब बांधा ?
सम्यक्दृष्टि सहित वीर प्रभुके चरणोंमें दर्शनशुद्धि आदि भावना भायी तब।

४०९. यदि कुगुरु आवे तो क्या करना ?
तो जानना कि ये सच्चे गुरु नहीं है।

४१०. यदि सामनेवालेको दुःख लगे तो ?
तो उसके भाव उसके पास रहे, इसमें तुझे क्या ? तू सम्यक्भावके द्वारा तेरा हित कर ले।

४११. क्या दिगंबर मनुष्य भी कुगुरु हो सकता है ? हाँ, जो जैनधर्मसे विरुद्ध प्ररूपणा करे तो वह भी कुगुरु है।

४१२. ऐसी बात किसलिये करते हो ?
सत्यको समझकर जीव अपना हित करे इसलिये।

४१३. भगवान भक्तोंको तारते हैं और राक्षसोंका हनन करते हैं क्या यह बात सत्य है ?
नहीं; ऐसे रागद्वेषके कार्य भगवान नहीं करते।

४१४. क्या रामचंद्रजी और हनुमानजी भगवान थे ?
हाँ; उनने भी सर्वज्ञवीतराग होकर मोक्षको प्राप्त किया।

४१५. क्या राम और हनुमान पूजे जा सकते हैं ?
हाँ; उनके वीतराग स्वरूपको पहिचानकर पूजे जा सकते हैं।

४१६. यदि कोई अरिहंत भगवानको दोषवाला माने तो ?
तो कोई भगवान दोषित नहीं हो जाते, परंतु उस जीवको मिथ्यात्व होता है।

४१७. देव अर्थात कौन ?
देव अर्थात सर्वज्ञ वीतरागपदको प्राप्त भगवाने।

४१८. पूर्ण सुख कहां होता है ?
पूर्ण सुख तो सर्वज्ञता और वीतरागतामें ही होता है।

४१९. सर्वज्ञ वीतरागदेवने क्या बताया ?
आत्माका सर्वज्ञ स्वभाव और वीतरागी मोक्षमार्ग बताया।

४२०. भवके दुखसे जो डरता है उसको क्या करना ?
कुमार्गको छोड़कर सर्वज्ञदेवके मार्गका सेवन करना।

४२१. जिनप्रतिमा कैसी कही है ?
जिनप्रतिमा जिनसारखी;

४२२. सर्व जगतको जानते तो हैं पर करते नहीं-ऐसे कौन हैं ?
सर्वज्ञदेव।

४२३. सर्वज्ञ वीतरागको छोड़कर मोही जीवको कौन भजते हैं?
जो तीव्र मोही होते हैं।

४२४. सर्वज्ञदेवकी कही हुई वस्तु कैसी है ?
अनेकान्तरूप द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है।

४२५. सच्चा ज्ञान क्या है ?
ज्ञान और रागकी भिन्नताका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

४२६. मतिश्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनोंकी जाति कैसी है?
दोनोंकी जाति एक जैसी है, दोनों राग बिनाके हैं।

४२७. शास्त्रोंका अभ्यास सच्चा कब कहलायगा?
स्वयंके ज्ञानस्वभावका निर्णय करे तब।

४२८. ज्ञानचेतना कब जागती है ?
ज्ञानस्वरूपका अनुभव करे तब।

४२९. जैनशास्त्रोंका सार क्या है ?
ज्ञानका अनुभव अर्थात वीतरागविज्ञान।

४३०. मोक्षमार्गके बीच जो व्यवहार आता है वो कैसा है?
वो जाननेयोग्य है, आदरने योग्य नहीं।

४३१. आदर करने लायक (योग्य) क्या है ?
परम ज्ञायक स्वभाव।

४३२. क्या आहारदानसे मोक्ष मिलता है ?
नहीं, उसका फल पुण्य है मोक्ष नहीं।

४३३. मोक्ष किससे मिलता है?—शुद्ध रत्नत्रयसे।

४३४. बिना प्रत्यक्षके अरिहंतदेवको माने तो ?
बिना प्रत्ययानके मिथ्यात्व नहीं छूटता और सच्चा हित भी नहीं होता।

४३५. धर्मी जीव अपनी प्रसिद्धि किसमें करता है ?
अपनी निर्मलपर्यायमें; वह बाहरकी प्रसिद्धि नहीं चाहता।

४३६. चारित्रवंत मुनिराज कैसे हैं ?
वे सिद्धप्रभुके पड़ोसी हैं।

४३७. मुमुक्षु जीव क्या करते हैं ?
अनुभवके लिये निजस्वरूपका अंतरमें बारंबार विचार करते हैं।

४३८. अभी किसका अवसर है ?
आत्माका हित करनेका यह उत्तम अवसर है।

४३९. जीवको परम सुख कब होता है ?
सिद्धपदको प्रगट करे तब।

४४०. दूसरी ढालके अंतमें क्या शिक्षा दी है ?
'अब आतमके हितपंथ लाग'
हे जीव ! अब तू आत्महितके पथमें लग जा।

卐 जय वीतराग-विज्ञान 卐

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर